# सत्य-शोध

हरखचन्द बोथरा

कलकत्ता

माघ कृष्ण ६ सं० २०१७ वि०

सत्यान्वेषियों

के

पवित्र चरण-कमलों

में

सादर-समर्पित

अप्पसरूवं पेच्छदि लोगालोगं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

अर्थ—केवली भगवान आत्मस्वरूप को देखते है। वे लोका-लोक को नहीं देखते, यदि कोई ऐसा कहे तो क्या दोष है? ॥ १६६ ॥

इसी गाथा से आपने यह निचोड़ निकाला है कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य को जैन-परम्परागत त्रैकालिक-सर्वज्ञत्व अमान्य था। [illegible] ग्रंथकार आगे की गाथाओं में क्या कहते है उसे भी देखिये

इन ६ गाथाओं में से गाथा-संख्या १६६ तथा १६६ में शिष्य की शंकाये है और इनके बाद की दो-दो गाथाओं मे गुरु द्वारा समाधान है।

इन गाथाओं द्वारा भगवान कुन्दकुन्दाचार्य सर्वथा असं-दिग्धता एवं एक स्वर से घोषित करते है कि जिस ज्ञान के लिए साकार, निराकार, जड, चेतन, स्व ( आत्मा या निश्चय ) और पर त्रिकालिक समग्र भाव या ब्रह्माण्ड के अखिल भाव [illegible] प्रत्यक्ष ज्ञान या सर्वज्ञत्व कहा जाता है तथा ज्ञान [illegible] स्वभाव है, जो स्व और पर प्रकाशक है।

[illegible] उपर्युक्त गाथाये भी विद्वज्जगत् के समक्ष [illegible] आचार्य ने इन ६ गाथाओं द्वारा संदिग्ध

यह हुआ 'नियमसार' का प्रसंग अब श्री 'समयसार' को भी देखिये।

उपर्युक्त उद्धरणानुसार पण्डित जी ने "यह ध्यान में रहे कि समयसार में उन्होंने खुद ही व्यवहारनय को असद्‌भूत-अपारमार्थिक कहा है ...विशेष जिज्ञासु व्यक्ति के लिये एक नई बात भी सुझाई जाय" जो लिखा है वह तटस्थ एवं तत्वज्ञ विद्वानों द्वारा विशेष गम्भीरतया विचारणीय है। भगवान कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रंथ 'समयसार' की १ गाथा को विचित्र कूटनीति अनुसार पूर्वापर-सम्बन्ध-विच्छिन्नतया दिखाकर पण्डित जी ने जो किया है उस पर भी ध्यान दीजिये। वह गाथा निम्न है :—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदोदु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥ 'समयसार'

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है, भूतार्थ शुद्ध ( निश्चय ) नय कहा गया है। भूतार्थ का आश्रय ( अवलम्बन ) करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है ॥ ११ ॥

यह 'समयसार' ग्रंथ की पीठिका-भूमिका में आई हुई ११ वीं गाथा है, जिसका प्रतिपाद्य विषय मिथ्यात्व और सम्यक्त्व है। व्यवहारनय—घर, कुटुम्बादि पर ( आत्मा से भिन्न ) पदार्थों को अपना मानने की दृष्टि—अभूतार्थ—अपारमार्थिक वा मिथ्यात्व है। शुद्ध निश्चयनय वा सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय आत्मा के स्वभाव को अपना मानने की दृष्टि

भूतार्थ—पारमार्थिक वा सम्यक्त्व है। भूतार्थ को आश्रय करने वाला—आत्म-स्वभाव मे स्थिति करनेवाला—जीव सम्यग्दृष्टि होता है। अभूतार्थ को आश्रय करनेवाला—धन-सम्पत्ति, सन्तानादि को अपना माननेवाला—जीव मिथ्यादृष्टि होता है। यह है उस गाथा का भावार्थ।

सारांश यह कि 'व्यवहार' (औपचारिक) गृह कुटुम्बादि पर पदार्थ मुमुक्षु के लिये हेय-त्याज्य-है और निश्चय (पारमार्थिक) निज आत्मा स्व-पदार्थ मुमुक्षु के लिये उपादेय आदरणीय है। शास्त्रकार ने पर पदार्थ को 'व्यवहारनय' और आत्मा को 'निश्चयनय' कहकर स्पष्ट किया है। नय दृष्टि को कहते है। व्यवहारनय से मतलब व्यवहार-दृष्टि और निश्चयनय से निश्चय-दृष्टि है।

दर्शन आत्मा में आश्रित वा निश्चित होने से 'आत्मा' निश्चय वा निश्चयनय है। अपनी आत्मा के सिवा समस्त पर पदार्थों का आत्मा (ज्ञान-दर्शन) उपचार वा व्यवहार करती है, इसलिये 'पर' व्यवहार वा व्यवहारनय है। आत्मा ज्ञान-दर्शन युक्त निज स्वभावमय है और उसके ज्ञान-दर्शन में समस्त आत्मेतर वा पर पदार्थ स्वाभाविकतया प्रतिबिंबित होते रहते हैं। आत्मा सदा अपने दर्शन-ज्ञानमय स्वभाव में स्थित वा निश्चित होने से 'निश्चय' है और उसमें प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थ व्यवहार्य वा उपचार्य होने से 'व्यवहार' है। निश्चय 'आत्मा' है और व्यवहार 'पर' है यह स्पष्ट करने के लिये और वैसे ही आत्मा 'स्व' एवं 'पर' समग्र भावों का प्रकाशक है, इसीको निर्द्वन्द्वतया सिद्ध करने के लिये ही भगवान कुन्दकुन्द ने 'नियमसार' की उपर्युक्त १६६ वीं आदि गाथाओं का आविष्कार किया है। फिर भी आश्चर्य यह है कि उसीमें से सर्वथा असम्बन्धतया एक गाथा को दिखाकर पंडितजी कैसी चतुराई से अपने उल्लू को सीधा कर रहे हैं कि 'नियमसार में उन्होंने (कुन्दकुन्दाचार्य ने) व्यवहार निश्चय का विश्लेषण करके सर्वज्ञत्व का और भी भाव सुझाया'।

पंडितजी कैसी होशियारी एवं कौशल से लिखते हैं कि 'एक ही उपयोग में एक ही समय जब आत्मा और आत्मेतर वस्तुओं का तुल्य प्रतिभास होता हो तब उसमें यह विभाग नहीं किया जा सकता कि लोकालोक का भास व्यवहारनय है और

व्यवहार (पर) का आश्रय आत्म-हानिकर होने से त्याज्य है, न कि ज्ञान। पर का भी ज्ञान त्याज्य नहीं। ज्ञान तो आत्मा का धर्म है, जिसके विषय स्व और पर निश्चय और व्यवहार सभी हैं।

निश्चय स्व-ज्ञान-दर्शनमय-आत्मा, जिसकी निर्मलता मे स्वाभाविकतया व्यवहार वा लोकालोकादि ज्ञेय एवं पर पदार्थ प्रतिक्षण ज्ञेयरूपेण प्रतिबिम्बित होते हैं।

एक ही समय एक ही उपयोग (ज्ञान-दर्शनमय आत्मा) निज द्रष्टा ज्ञाता स्वभाव से समस्त आत्मेतर वस्तुओं का प्रतिबिम्बित्व वा दर्शन-ज्ञान करता है। निश्चय-आत्मा, व्यवहार लोकालोकादि को प्रति समय स्वाभाविकतया प्रतिबिम्बित करता है इसमे विभाग की गंध को भी स्थान कहाँ? बावजूद इतनी स्पष्टता के, भगवान कुन्दकुन्द के इन महावाक्यों को सर्वथा असम्बन्धतया इस तरह अर्थ से अनर्थ मे परिणत करना कि 'समयसार' मे (मुमुक्षु के लिये) व्यवहार वा पर अभूतार्थ बतलाया गया है, इसलिये व्यवहारनय (पराश्रित पदार्थ वा पर) का द्रष्टा-ज्ञाता-केवली-सर्वज्ञ भी अभूतार्थ-अपारमार्थिक है, (दोनों भास या तो पारमार्थिक है या दोनों व्यावहारिक है, आदि पटु वाक्यों द्वारा), यह सत्य की कैसी दयनीय हत्या है, प्रत्यक्ष है। समयसार मे किस उद्देश्य से और कैसे उपयुक्त अभूतार्थ शब्द को सर्वथा अप्रासंगिकतया येनकेन प्रकारेण 'नियमसार' की भिन्न विषयक गाथाओ मे

बनाकर तत्व को अतत्व सिद्ध करना ही पंडितजी का एकमात्र उद्देश्य है, यह बिलकुल साफ (Clear) है।

ज्ञेय पदार्थ ज्ञेय नहीं हो सकते और वह भी सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा इससे बढ़कर आश्चर्य की बात ही क्या हो सकती है ?

## श्री हरिभद्रसूरि-प्रसंग

दृष्टि समुच्चय' मे सुगत, कपिल आदि सभी आध्यात्मिक और सद्गुणी पुरुषों के सर्वज्ञत्व को निर्विवाद रूप से मान लिया और उसका समर्थन भी किया ( का० १०२-१०८ )। समर्थन करना इसलिए अनिवार्य हो गया था कि वे एक वार सुगत, कपिल आदि के सर्वज्ञत्व का निपेध कर चुके थे; पर अव उन्हे वह तर्कजाल मात्र लगती थी ( का० १४०-१४७ )।"

उपर्युक्त उद्धरण मे पण्डितजी 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रन्थ की कारिका—१०२-१०८ का उल्लेख करते हैं। वे निम्न प्रकार हैं :—

न तत्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा वहवो यतः।
मोहस्तदवि (धि) मुक्तोना, तद् भेदाश्रयणं तत ॥१०२॥
सर्वज्ञो नाम य. कश्चित्पारमार्थिक एव हि।
स एक एव सर्वत्र, व्यक्तिभेदेऽपि तत्वतः॥१०३॥
विशेपस्तु पुनस्तस्य, कार्त्स्न्येनासर्वदर्शिभिः।
सर्वैर्न ज्ञायते तेन, तमापन्नो न कश्चन॥१०४॥
तस्मात्सामान्यतोऽप्येन, मभ्युपैति य एव हि।
निर्व्याजं तुल्य एवासौ, तेनाशेनैव धीमताम्॥१०५॥
यथैवैकस्य नृपते - र्वहवोऽपि समाश्रिता ।
दूरासन्नादि भेदेऽपि, तद्भृत्याः सर्व एव ते॥१०६॥
सर्वज्ञतत्वाभेदेन, तथा सर्वज्ञवादिनः।
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेया, भिन्नाचार स्थिता अपि॥१०७॥
न भेद एव तत्वेन, सर्वज्ञाना महात्मनाम्।

तथा नामादि भेदेऽपि, भाव्यमेतन्महात्मभिः ॥१०८॥

अर्थ—तात्विक दृष्टि से ( मोक्षवादी दर्शनों में ) मतभेद नहीं है। मात्र शब्द अनेक हैं। सर्वज्ञ का भेद करना उनके अतिभक्तों का मोह है ॥१०२॥

गाथा सं० १०३ का स्वोपज्ञ-भाष्य महत्वपूर्ण होने से यहाँ दिया जाता है —

अप्राप्त-सर्वज्ञत्व वा छद्मस्थ दर्शनकार नहीं जान सकते। क्योंकि उसमें उनकी गति नहीं होती अतः उस सर्वज्ञ को सर्व छद्मस्थ दर्शनकार अप्राप्त हैं ॥१०४॥

इसलिये जो कोई दर्शनकार समान्यतया—अविशेषतया भी इस सर्वज्ञ को मानते हैं, वे उचित दृष्टि से सर्वज्ञ-आज्ञा-पालक है। अतः सर्वज्ञ-मान्यता-लक्षण वा अंश के कारण, बुद्धिमानों के लिए तुल्य हैं ॥१०५॥

जैसे किसी एक राजा के छोटे-वड़े, दूर-निकट रहनेवाले अनेक सेवक राज-आश्रयत्व की दृष्टि से राज-सेवक है, वैसेही सर्व दर्शनकार सर्वज्ञ-आश्रयत्व के कारण सर्वज्ञ-सेवक है ॥१०६॥

सर्वज्ञ-तत्व की अभेदता ( समानता ) के कारण राज-आश्रित अनेक सेवकों की नाईं, कपिल, पतंजलि आदि सर्वज्ञ-वादी महात्माओं को ऊपर कहे अनुसार सर्वज्ञ तत्व मे गमन करने वाले जानना चाहिये, भले उनके आचार भिन्न हों ॥ १०७ ॥

तात्विक दृष्टिसे सर्वज्ञ महात्माओ, भाव-सर्वज्ञोंमे (सर्वज्ञत्व का भाव-वीज उत्पन्न हो गया है जिनमे ), नाम-भिन्नता होने पर भी भेद नहीं है। यही महात्माओंद्वारा श्रुत-मेधा-निर्मोहता-सार प्रज्ञा से विचारणीय है ॥१०८॥

उपर्युक्त कारिकाओं द्वारा भगवान हरिभद्रसूरि ने यह एक स्वर से घोपित कर दिया है कि सर्वज्ञ जो भी कोई है, वह ऋष-भादि परमात्मा समान शुद्धातिशुद्धता एवं त्रैकालिक समग्र-भाव-

फैलाई जाये कि हरिभद्र सूरि को निरुपचरित वा त्रैकालिक सर्वज्ञत्व खटकता रहा तो तेज सूर्य प्रकाशमय मध्याह्न को अमावस्या की मध्य-रात्रि कहनेवाला भी निर्दोष है, सच्चा है।

पंडितजी अपनी पुष्टि में, इसी 'योग-दृष्टिसमुच्चय' ग्रंथ की गाथा १४० से १४७ का हवाला देते है। उस पर भी ध्यान दीजिये। वे गाथायें ये है :—

कुदृष्ट्यादिवन्नो सन्तो, भाषन्ते प्रायसः कचित्।
निश्चितं सारवच्चैव, किन्तु सत्वार्थकृत्सदा ॥१४०॥
निश्चयाऽतीन्द्रियार्थस्य, योगिज्ञानादृते न च।
अतोऽप्यत्रान्धकल्पाना, विवादेन न किञ्चन ॥१४१॥
न चानुमान विषय, एषोऽर्थस्तत्वतो मतः।
न चातो निश्चयः सम्य-गन्नत्राप्याह धीधनः ॥१४२॥
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यै—रन्यथैवोपपाद्यते ॥१४३॥
ज्ञायेरन्हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥१४४॥
न चैतदेवं यत्तस्माच्छुष्कतर्कग्रहो महान्।
मिथ्याभिमानहेतुत्वा—त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥१४५॥
ग्रह· सर्वत्र तत्त्वेन मुमुक्षूणामसंगतः।
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्याः किमनेन तत् ॥१४६॥
तदत्र महता वर्त्म, समाश्रित्य विचक्षणैः।
वर्तितव्य यथान्यायं, तदतिक्रमवर्जितैः ॥१४७॥

अतः महान् आत्माओं ने जिस मार्ग का अनुसरण किया है, विचक्षण-बुद्धियों को उसी मार्ग का दोषरहित आश्रय एवं वर्तन ही कर्तव्य है ॥१४७॥

इन कारिकाओं का भावार्थ यह है कि सर्वज्ञत्व एवं मोक्षादि अतीन्द्रिय तत्व योगिज्ञानगम्य ही है। योगि-ज्ञान रहित विद्वान चाहे जैसे भी शिक्षित एवं तार्किक हों, इन तत्वों में उनकी गति हो ही नहीं सकती। उनकी इन तत्व-विषयक आलोचना एवं टीका शुष्क तर्क है जो सर्वथा अनुचित है। ऐसा शुष्क तर्क वा दुराग्रह आत्म-साधन मे घोर बाधक है, न कि साधक। अस्तु, मुमुक्षुओ को चाहिए कि वे इस (शुष्क तर्क) को सर्वथा आश्रय न दें और वीत-कल्मष महान् आत्माओं ने जिस मार्ग का आचरण किया है उसीका निर्भ्रान्ततया अवलम्बन करें।

पण्डितजी लिखते हैं कि "पर अब उन्हें वह तर्कजाल मात्र लगती थी"। ग्रन्थकार महोदय ने स्वयमेव स्पष्ट कर दिया है कि 'सर्वज्ञत्व' योगिज्ञान-गम्य तत्व है, जिसका पार तर्क से न किसी ने पाया और न पायेगा भी। अतः तर्क एवं विवाद का त्याग तथा कार्यसाधक आत्म साधना ही मुमुक्षुओं के लिये चाहे वे योग, पातंजल, सौगत, जैन किसी भी मत के अनुयायी हों एकमात्र श्रेयष्कर है। साधक कहीं तर्कजाल के शिकार न हो जाय इसीलिये उन्होंने यह सत्परामर्श चेतावनी-रूप मे सर्व मतों के मोक्षाभिलाषियों को दी है। जिसको पण्डितजी "उन्हें

त्रजाल मात्र लगती थी" कहकर Confuse ( गोलमाल ) कर रहे हैं।

पण्डितजी लिखते हैं कि यह 'हरिभद्रसूरि' का एक ही अपवाद है कि जिन्हें जैन परम्परा मान्य सर्वज्ञत्व का समर्थन करना ठीक नहीं जान पड़ता है। और वे लिखते हैं कि 'उन्हें यह बहुत खटकी थी कि महावीर को तो सर्वज्ञ कहा जाय और सुगत, कपिल आदि जो ऐसे ही आध्यात्मिक हुए हैं, उन्हें सर्वज्ञ कहा या माना न जाय।'

जैसे सभी समान है, वैसे ही सर्व दर्शनकार सर्वज्ञ-मान्यता रूप सामान्य लक्षण के आधार पर समान हैं। क्योंकि सर्वज्ञ-मान्यता सभी ( सर्वज्ञ-वादी ) दर्शनकारों में अभेद रूप से है जैसा ऊपर कहा गया है, अतः वे सब सर्वज्ञ-तत्व के आराधक होने के कारण भाव-सर्वज्ञ वा सर्वज्ञ-महात्मा है, भले ही उनके आचार एवं नाम भिन्न हों।

ग्रन्थकार के ऐसे उदार एवं वास्तविक तत्व तथा स्थिति-प्रकाशक उपदेश की मौजूदगी में भी यदि कोई अर्थ को अनर्थ में परिणत कर इस तरह से झूठी भ्रान्ति फैलाने की एवं महापुरुषों को कलंकित करने की कतई खोटी कोशिश करते है, तो ऐसा करने मे उनका क्या उद्देश्य है, यह सुविज्ञों के समक्ष प्रत्यक्ष है।

यह तो हुई परमर्षि श्री हरिभद्रसूरि की वात, अव पण्डितजी **'उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज'** के सम्वन्ध मे जो कहते हैं, वह भी देखिये।

आप लिखते है ( पृष्ठ ५५६ मे ) कि 'हरिभद्र का उपजीवन और अनुगमन करनेवाले अन्तिम प्रवलतम जैन तार्किक यशोविजयजी ने भी अपनी कुतर्कग्रहनिवृत्ति द्वात्रिंशिका में हरिभद्र की वात का ही निर्भयता से और स्पष्टता से समर्थन किया है। हालाकि यशोविजयजी ने भी अन्य अनेक ग्रन्थों मे सुगत आदि के सर्वज्ञत्व का आत्यन्तिक खण्डन किया है।'

'कुतर्कग्रहनिवृत्ति' द्वात्रिंशिका में श्री उपाध्यायजी महाराज ने श्री हरिभद्रसूरि के उपर्युक्त गाथा १४०-४७ के आशय को ही प्रायः

तर्कजाल मात्र लगती थी" कहकर Confuse ( गोलमाल ) कर रहे है।

पण्डितजी लिखते है कि यह 'हरिभद्रसूरि' का एक ही अपवाद है कि जिन्हे जन परम्परा मान्य सर्वज्ञत्व का समर्थन अखरा जान पडता है। और वे लिखते है कि 'उन्हें यह बहुत खटकी कि महावीर को तो सर्वज्ञ कहा जाय और सुगत, कपिल आदि जो वैसे ही आध्यात्मिक हुए है, उन्हें सर्वज्ञ कहा वा माना न जाय।'

भगवान हरिभद्रसूरि ने उपर्युक्त कारिका १०३ के स्वोपज्ञ-भाष्य मे स्पष्ट कर दिया है कि 'सर्वज्ञो नाम यः कश्चिदर्हदादिः' सर्वज्ञ परमात्मा जो कोई अर्हत् आदि है वह पारमार्थिक—निरूपचरित वा मुख्य ही है। एवं वह ऋषभादि जैसा वीत-कल्मप तथा अनुपम अलौकिक गुण एवं विशिष्टता का निश्शेष भण्डार ही है। सभी सर्वज्ञवादी दर्शनकार ( साख्य, योगादि ) ऐसे ही मुख्य सर्वज्ञ—पूर्णातिपूर्ण परमात्मा वा पूर्ण ब्रह्म की सामान्यतया—अविशेपतया उपासना करनेवाले है।'

कारिका १०४ स्पष्टतया व्यक्त करती है कि अप्राप्त-सर्वज्ञत्व ( छद्मस्थ ) उपदेशको द्वारा 'सर्वज्ञत्व' का पूर्ण भाव गम्य नहीं है का० १०५—सर्व दर्शनकार सामान्यतया सर्वज्ञमान्यता के कारण अंश-धारण के नाते तुल्य है, प्रकट करती है। कारिका १०६-१०८ से स्पष्ट है कि राज्य के प्रधान सचिव, न्यायाधीश आदि छोटे-बड़े नाना सेवक राज-आज्ञापालन की दृष्टि से

जैसे सभी समान है, वैसे ही सर्व दर्शनकार सर्वज्ञ-मान्यता रूप सामान्य लक्षण के आधार पर समान हैं। क्योंकि सर्वज्ञ-मान्यता सभी ( सर्वज्ञ-वादी ) दर्शनकारों में अभेद रूप से है जैसा ऊपर कहा गया है, अतः वे सब सर्वज्ञ-तत्व के आराधक होने के कारण भाव-सर्वज्ञ वा सर्वज्ञ-महात्मा हैं, भले ही उनके आचार एवं नाम भिन्न हों।

ग्रन्थकार के ऐसे उदार एवं वास्तविक तत्व तथा स्थिति-प्रकाशक उपदेश की मौजूदगी में भी यदि कोई अर्थ को अनर्थ में परिणत कर इस तरह से झूठी भ्रान्ति फैलाने की एवं महापुरुषों को कलंकित करने की कतई खोटी कोशिश करते है, तो ऐसा करने में उनका क्या उद्देश्य है, यह सुविज्ञों के समक्ष प्रत्यक्ष है।

यह तो हुई परमर्षि श्री हरिभद्रसुरि की वात, अव पण्डितजी **'उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज'** के सम्बन्ध में जो कहते है, वह भी देखिये।

आप लिखते है ( पृष्ठ ५५९ में ) कि 'हरिभद्र का उपजीवन और अनुगमन करनेवाले अन्तिम प्रवलतम जैन तार्किक यशोविजयजी ने भी अपनी कुतर्कग्रहनिवृत्ति द्वात्रिंशिका मे हरिभद्र की वात का ही निर्भयता से और स्पष्टता से समर्थन किया है। हालाकि यशोविजयजी ने भी अन्य अनेक ग्रन्थों में सुगत आदि के सर्वज्ञत्व का आत्यन्तिक खण्डन किया है।'

'कुतर्कग्रहनिवृत्ति' द्वात्रिंशिका में श्री उपाध्यायजी महाराज ने श्री हरिभद्रसुरि के उपर्युक्त गाथा १४०-४७ के आशय को ही प्रायः

दूसरे शब्दों मे प्रकट किया है। उसमे ३२ गाथायें है, किन्तु यहाँ सिर्फ सम्बन्धित कुछ गाथाय दी जा रही है :—

तत्कुतर्केण पर्याप्तमसमञ्जसकारिणा।
अतीन्द्रियार्थ सिद्ध्यर्थं नावकाशोऽस्य कुत्रचित् ॥१३॥

अर्थ—असमंजसकारी (दुविधाजनक)—भ्रान्तिकारी कुतर्क से बिदा लेनी चाहिये। अतीन्द्रियार्थ—मोक्ष, सर्वज्ञत्वादि पदार्थों की सिद्धि में उसको कहीं भी स्थान नहीं है ॥१३॥

सर्वज्ञो मुख्य एकस्तत्प्रतिपतिश्च यावताम्।
सर्वेऽपि ते तमापन्ना मुख्यं सामान्यतो बुधाः ॥१५॥

अर्थ—सर्वज्ञ मुख्य—अनन्त, अचिन्त्य ज्ञान विशिष्टता से परिपूर्ण है। मुख्य सर्वज्ञत्व जैसी सर्वातिशायी अवस्था मे न्यूनाधिकता रूप पार्थक्य को अवकाश नहीं है। इस सर्वमान्य एकरूपता के कारण वह एकसा वा 'एक' है। सामान्यतया सभी दर्शनकार इसी मुख्य सर्वज्ञ के उपासक हैं ॥१५॥

सर्वज्ञ प्रतिपत्त्यंशमाश्रित्यामलया धिया।
निर्व्याजं तुल्यता भाव्या सर्वतन्त्रेषु योगिनाम् ॥१७॥

अर्थ—योगियो के सर्वतन्त्रो (मोक्षवादी सभी दर्शनो) मे सर्वज्ञ मान्यता अंश (बीज) है। इस (सर्वज्ञ मान्यता) आधार पर यदि निर्मल बुद्धि एवं उचित दृष्टि से विचार किया जाये तो सर्व दर्शनों में समानता है ॥१७॥

दूरासन्नादिभेदेऽपि तद्भृत्यत्वं निहन्ति न।
एको नामादिभेदेन भिन्नाचारेष्वपि प्रभुः ॥१८॥

अर्थ—सर्वज्ञत्व रूप अनन्त ज्ञान-गौरव से परिपूर्ण एकरूप 'एक' प्रभु के सर्व दर्शनकार भिन्नाचार वाले होते हुए भी राजाश्रित उच्च, निम्न, दूर, निकटस्थ कर्मचारियो की तरह सेवक है ॥ १८ ॥

असंमोहसमुत्थानि योगीनामाशुमुक्तये।
भेदेऽपि तेपामेकोऽध्वा जलधौ तीर मार्गवत् ॥२६॥

अर्थ—योगियों की—भव-व्याधि अन्तकारियों की विमूढ़त्व-रहित क्रियाएँ भिन्न-भिन्न होने पर भी शीघ्र मोक्ष-दायिनी होती है, जैसे नाना स्थानों से चले हुए समुद्र-यात्रियों का लक्ष्य समुद्र-तट है ॥२६॥

तस्माद्चित्र भक्त्याप्याः सर्वज्ञा न भिदामिताः।
चित्रा गीर्भववैद्यानां, तेषां शिष्यानुगुण्यतः ॥२७॥

अर्थ—अतएव एकरूप मोक्ष-भक्तिवाले सर्वज्ञाज्ञा-आराधन-रूप अभेद के कारण राजाज्ञा-धारक सेवको की नाईं सर्वज्ञो में भेद नहीं है। इन भव-व्याधि-चिकित्सकों का उपदेश शिष्यो की योग्यतानुसार चित्र-विचित्र होता है ॥२७॥

इन गाथाओं में पूज्यवर उपाध्यायजी महाराज ने 'मुख्य' शब्द के प्रयोग द्वारा सर्वज्ञ की अगम्य, अकल्प्य, अनन्त ज्ञान-विशिष्टता को सूचित किया है एवं यह अतीन्द्रिय विपय है जिसमे कुतर्क को सर्वथा स्थान नहीं है तथा सभी आस्तिक दर्शनकार सामान्यतया—अविशेपतया 'मुख्य सर्वज्ञ' के आराधक

है अतः सर्वज्ञोपासकत्व लक्षण के आधार पर राजा के छोटे-बड़े सभी पदाधिकारी जैसे सेवकत्व के नाते समान है वैसे ही सभी मोक्ष-वादी दर्शनकार तुल्य या सर्वज्ञ है।

इतने स्पष्ट आपेक्षिक वचन को येनकेन प्रकारेण अर्थान्तर में परिणत करके सत्य पर जो भीषण अन्याय पण्डितजी ने किया है, वह प्रत्यक्ष है।

---

# श्री आचारांग प्रसंग

पंडितजी लिखते है (पृष्ठ५५५ मे) कि "जहाँ तक जैन परपम्रा का सम्बन्ध है उसमे सर्वज्ञत्व का एक ही अर्थ माना जाता रहा है और वह यह कि एक ही समय मे त्रैकालिक समग्र भावों को साक्षात् जानना। इसमे शक नहीं कि आज जो पुराने से पुराना जैन आगमो का भाग उपलब्ध है उसमें भी सर्वज्ञत्व के उक्त अर्थ के पोषक वाक्य मिल जाते है परन्तु सर्वज्ञत्व के उस अर्थ पर तथा उसके पोषक वाक्यो पर स्वतन्त्र बुद्धि से विचार करने पर तथा उन्हीं अति पुराण आगमिक भागो मे पाये जाने वाले दूसरे वाक्यो के साथ विचार करने पर यह स्पष्ट जान पडता है कि मूल में सर्वज्ञत्व का वह अर्थ जैन परम्परा को भी मान्य न

था जिस अर्थ को आज वह मान रही है और जिसका समर्थन सैकड़ों वर्ष से होता आ रहा है।

प्रश्न होगा कि तब जैन परम्परा मे सर्वज्ञत्व का असली अर्थ क्या था ? इसका उत्तर आचारांग,भगवती आदि के कुछ पुराने उल्लेखों से मिल जाता है। आचाराग मे कहा कि 'जो एकको जानता है वह सबको जानता है। और जो सबको जानता वह एकको जानता है।' इस वाक्य का तात्पर्य टीकाकारों और तार्किकों ने एक समय में त्रैकालिक समग्र भावों के साक्षात्कार रूपसे फलित किया है। परन्तु उस् स्थान के आगे-पीछे का सम्बन्ध तथा आगे-पीछे के वाक्यों को ध्यान में रखकर हम सीधे तौर से सोचें तो उस वाक्य का तात्पर्य दूसरा ही जान पड़ता है। वह तात्पर्य मेरी दृष्टि से यह है कि जो एक ममत्व, प्रमाद या कषाय को जानता है वह उसके क्रोधादि सभी आविर्भावो, पर्यायों या प्रकारों को जानता है और जो क्रोध, मान आदि सब आविर्भावों को या पर्यायों को जानता है वह उन सब पर्यायों के मूल और उनमें अनुगत एक ममत्व या बन्धन को जानता है। जिस प्रकरण मे उक्त वाक्य आया है वह प्रकरण मुमुक्षु के लिए कषाय त्याग के उपदेश का और एक ही जड में से जुदे-जुदे कषायरूप परिणाम दिखाने का है। यह बात ग्रंथकार ने पूर्वोक्त वाक्य से तुरन्त ही आगे दूसरे वाक्य के द्वारा स्पष्ट की है जिसमे कहा गया है कि 'जो एक को नमाता है दबाता है या वश करता है वह बहुतों को नमाता, दबाता या वश करता है और जो बहु

को नमाता है वह एक को नमाता है।' नमाना, दबाना या वश करना मुमुक्षु के लिये कषाय के सिवाय अन्य वस्तु मे लागू हो नहीं सकता। जिससे उसका तात्पर्य यह निकलता है कि जो मुमुक्षु एक अर्थात प्रमाद को वश करता है वह बहुत कषायो को वश करता है और जो बहुत कषायो को वश करता है वह एक अर्थात् प्रमाद को वश करता ही है। स्पष्ट है कि नमाने की और वश करने की वस्तु जब कषाय है तब ठीक उसके पहले आये हुए वाक्य मे जानने की वस्तु भी कषाय ही प्रकरण प्राप्त है। आध्यात्मिक साधना और जीवन शुद्धि के क्रम में जैन तत्वज्ञान की दृष्टि से आश्रव के ज्ञान का और उसके निरोध का ही महत्व है। जिसमे कि त्रैकालिक समग्र भावो के साक्षात्कार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। उसमे प्रश्न उठता है तो मूल दोष और उसके विविध आविर्भावों के जानने का और निवारण करने का। ग्रंथकार ने वहाँ यही बात बतलाई है। इतना ही नहीं, बल्कि उस प्रकरण को खतम करते समय उन्होंने वह भाव 'जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादसी, जे मायादंसी से लोभ दंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।' इत्यादि शब्दो मे स्पष्ट रूप मे प्रकट भी किया है। इसलिए 'जे एग जाणई' इत्यादि वाक्यो का जो तात्पर्य मैंने ऊपर

बतलाया वही वहाँ पूर्णतया संगत है और दूसरा नहीं। इसलिए मेरी राय मे जैन परम्परा मे सर्वज्ञत्व का असली अर्थ आध्यात्मिक साधना मे उपयोगी सब तत्वों का ज्ञान यही होना चाहिए; नहीं कि त्रैकालिक समग्र भावों का साक्षात्कार।"

पण्डितजी के उपर्युक्त कथनानुसार श्री आचारांग सूत्र का सम्बन्धित पाठ यहाँ दिया जा रहा है, उस पर भी तत्वज्ञ विद्वान् ध्यान दें। यथार्थ में ही अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये पण्डितजीने इस प्रसंग मे भी जो घोर अनर्थ किया है वह भी देखिये—

से वंता कोहं च, माणं च, मायं च, लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स आयाणं सगडब्भि। जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ। सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अपमत्तस्स णत्थि भयं। जे एगं णामे से बहूणामे, जे बहूणामे से एगं णामे। दुक्खं लोयस्स जाणित्ता, वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं परेण परं जंति णावकंखंति जीवियं। एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो विगिंचमाणे एगं विगिंचइ। सड्ढी आणाए मेहावी। लोगंच आणाए अभिसमेच्चा अकुतो भयं। अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं। जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोहदंसी, जे लोहदंसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मार-

दंसी, जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी। से मेहावी अभिणिवटेज्जा कोहंच, माणंच, मायंच, लोहंच, पेज्जंच, दोसंच, मोहच, गब्भंच, जम्मंच, मरणंच, णरगच, तिरियंच, दुक्खंच, एवं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं णिसिद्धा सगडब्भि। किमत्थि उवाधि पासगस्स? णविज्जति णत्थि त्तिवेमि॥

यह श्री आचाराग सूत्र के शीतोष्णीय नामक तृतीय अध्ययन का चतुर्थ उद्देश्य है। नाम इसका कषाय-विजय प्रकरण है पर दरअसल है यह वस्तु-स्वभाव-प्रकाशक कोष।

अर्थ—शस्त्र—असंयम (अनात्म-भाव) रहित पूर्ण भवान्तकारी पश्यक—सर्वज्ञ का सिद्धान्त है कि क्रोध, मान, माया एवं लोभ को वमन (विनाश) करनेवाला, आनेवाले एवं पूर्व संचित दोनों प्रकार के कर्मों को भेदन ( क्षय ) करता है। सर्वज्ञ दर्शन और क्या कहता है—जो एक आत्मा वा परमाणु आदि द्रव्य ( उसके सर्वगुण पर्याय सहित ) को जानता है, वह सर्व वा अखिल विश्व-भाव को जानता है। जो सर्व को जानता है वही एक द्रव्य को ( पूर्णरूपेण ) जानता है। प्रमत्त सर्वप्रकारेण भयाक्रान्त है, अप्रमत्त सर्वप्रकारेण भय-रहित है। जो एक क्रोध को दबाता है—उपशान्त करता है, वह मानादि अनेक साथी कर्मों को दबाता है। वीर साधक संसार के दुःख को जानकर संसार के सम्बन्ध का परित्याग करते है। फलस्वरूप इसी जन्म मे वा परम्परा से भी मोक्ष प्राप्त करते है। किन्तु वे आत्म-विमुख

जीवन की इच्छा नहीं करते। एक कर्म प्रकृति (दर्शन-मोहादि) का क्षय करने वाला पृथक् पृथक् अनेक कर्म-प्रकृतियों (अनन्तानुबन्ध्यादि) को क्षय करता है। पृथक्-पृथक् अनेक प्रकृतियों को क्षय करनेवाला मूल कर्म को भी एक साथ क्षय करता है। मेधावी श्राद्ध साधक सर्वज्ञ-वाणी को ही शिरोधार्य करता है। वह सर्वज्ञ-वाणी से संसार के स्वरूप को भलीभाँति जानकर स्व और पर सर्व के लिये अभय-दाता होता है। शस्त्र—असंयम वा अनात्म-भाव के साधन उत्तरोत्तर भयंकर एवं पतनशील हैं। अशस्त्र—संयम वा आत्म-भाव उनसे (भयंकरत्व एवं पतन की परंपरा से) रहित है। जो विचक्षण-बुद्धि साधक ('सड्ढी आणाए मेहावी') जिन-वाणी को अपनी आधारशिला बनाकर क्रोध को बंध, स्थिति, विपाकादि परिणामों से देख लेता है, वह मानको भी इसी तरह देख लेता है, मान को देखने वाला माया को, माया को देखने वाला लोभ को, लोभ को देखने वाला राग को, राग को देखने वाला इसके प्रतिपक्षी द्वेष को, द्वेष की जड़ मोह है, मोह गर्भ का मूल है, गर्भ का परिणाम जन्म है, जन्म है वहाँ मृत्यु है ही, मृत्यु के बाद यहाँ के घोर दुष्कृत्यों की पाक (फसल) काटने के लिये सुनिश्चित नरक-योनि मे पुनर्जन्म है, नरक से तिर्यंच योनि है। इस तरह भव-फेरी के अविच्छिन्न दु:ख की परम्परा वा घटमाल (रहट) को देख लेता है। 'से मेहावी'—सर्वज्ञाज्ञा आधारभूत मेधावी साधक क्रोध को, मानको, माया को, लोभ को, राग को, द्वेष को, मोह को,

गर्भ को, जन्म को, मरण को, नरक को, तिर्यंच को और इनके परिणाम दुःख को आत्म-साधना द्वारा अभिनिवृत्त—सम्यक्-प्रकार से निषिद्ध करता है। यह है पश्यक—सर्वज्ञ का दर्शन वा सिद्धान्त। जो (सर्वज्ञ) शस्त्र—आत्म-विमुख सर्व भावो से सर्वथा रहित है एवं जो समस्त कर्म आगमन द्वार को पूर्णतया रोधकर तथा संचित कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करके भव-व्याधि का निश्शेषतया अन्त कर चुका है। क्या कोई उपाधि है सर्वज्ञ को ? नहीं है, नहीं है, यही कहता हूँ॥ इति॥

उपर्युक्त प्रकरण मे अनेक महत्वपूर्ण पदार्थों के धर्मों वा वस्तु-स्वभाव पर प्रकाश डाला गया है। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय का आत्मा से सम्बन्ध है। उसका वमन होता है, जिसका फल कर्म-क्षय है। एक पदार्थ को पूर्णतया जानने की सामर्थ्य जिसमे है उसीमें सर्व पदार्थों के सर्व भावो को जानने की सामर्थ्य है। सर्व पदार्थों के सर्व भावो को जानने की शक्ति जिसमे है उसी मे एक पदार्थ को मय उसके अनन्त धर्मों के जानने की शक्ति है, क्योकि पदार्थ मात्र ही अनन्त धर्मात्मक है। प्रमत्तता भय-मूल एवं अप्रमत्तता अभय-मूल है। एक क्रोधादि कर्म को दबाने वा उपशम करने से मानादि अनेक साथी कर्म एक साथ दबते वा उपशान्त होते है। लोक—संसार का स्वरूप एवं संयोग दुःखमय है, अत. त्याज्य है। त्याग के फलस्वरूप अकल्प्य, अचिन्त्य, सच्चिदा-नन्दमय अक्षय स्थिति की प्राप्ति होती है। असंयत वा

आत्म-विमुख जीवन सर्वथा अवाञ्छनीय है। मूल कर्म के साथ अनेक शाखा कर्म-प्रकृतियाँ क्षय होती हैं। एक शाखा-प्रकृति के क्षय से मूल कर्म का भी क्षय है। सर्वज्ञ-वाणी से ही संसार की वास्तविक स्थिति एवं तद्योग्य आत्म-साधना की प्राप्ति होती है और वही सर्वथा निर्भयता का हेतु है। असंयम—अनात्मभाव, राग-द्वेष की उत्तरोत्तर भयंकर प्रकृष्टता से युक्त है, जिसका परिणाम अविच्छिन्न दुःख की परम्परा है। संयम—आत्म-स्थिति इसके विपरीत साम्य-भावमय होने से अविच्छिन्न सुख की परम्परा ही है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मरण, नरक, तिर्यञ्च है एवं इनका सम्बन्ध तथा परिणाम केवल दुःख का ही हेतु है। सर्वज्ञ-वाणी परायण साधक एक-एक करके इन सबको जान लेता है और उसीको ( सर्वज्ञ-वाणीको ) अपनी आधारशिला बनाकर आत्म-साधना द्वारा इनका अन्त कर सच्चिदानन्दमय अक्षय स्थिति का स्वामी बनता है।

वस्तु-स्वभाव का अनुपम भण्डार उपर्युक्त प्रकरण 'कषाय-विजय' के प्रसंग मे स्वतन्त्रतया आये हुए अनेक 'तत्वों' को प्रकाशित करता है। 'एगं जाणइ' सर्वज्ञ-तत्व पर प्रकाश डालता है। 'सव्वतो पमत्तस्स' प्रमत्तता भयमूल एवं अप्रमत्तता अभय-मूल है, इसपर प्रकाश डालता है। 'एगं णामे' तथा 'एग विगिंच-माणे' क्रमशः कर्मों के आंशिक एवं सामस्तिक क्षय की चित्र-विचित्रता को सूचित करते हैं। इसी तरह इस प्रकरण का प्रत्येक पद ही एक-एक अनुपम तथ्य का प्रकाशक है।

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' तथा इसका पूरक पद जो उस प्रसंग में आया है उसका सीधा और सरल अर्थ है 'जो एक को जानता है वह सर्व को जानता है और जो सर्व को जानता है वही एक को जानता है'। यह निर्विवाद सत्य ( Fact ) है कि पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। अतः एक आत्म-द्रव्य वा परमाणु आदि कोई भी एक पदार्थ जो अनन्त गुण, पर्याय युक्त है उसे जाननेवाला अनन्त धर्मों का जाननेवाला होने से, अनन्त वस्तु-भाव का ज्ञाता वा त्रैकालिक समग्र भाव-ज्ञाता स्वाभाविक ही है। किसी प्रकार की भ्रान्ति न हो इसीलिये शास्त्रकार ने दूसरा पूरक पद 'जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ' देकर सूर्य-किरण की तरह स्पष्ट कर दिया है कि सव्वं—समस्त वा त्रैकालिक समग्र भाव को जाननेवाला ही एक द्रव्य का पूर्ण ज्ञाता होता है, अन्य कदाचित् नहीं। इसके सिवा उसका ज्ञान अधूरा वा आत्म-प्रवंचना युक्त है।

'एगं जाणइ' मे भी एगं है और 'एगं णामे' तथा 'एगं विगिंचमाणे' में भी एगं है। अर्थात् तीनों पदों मे एगं साधारण ( Common ) है। मालूम होता है कि इस अनर्थ की रचना मे यह 'एगं' शब्द ही पण्डितजी की पृष्ठ-भूमि है। जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण में वे लिखते है कि "जो एक को नमाता है, दबाता है या वश करता है वह बहुतों को नमाता, दबाता या वश करता है······स्पष्ट है कि नमाने की और वश करने

की वस्तु जब कषाय है तब ठीक उसके पहले आए हुए वाक्य में जानने की वस्तु भी कषाय ही प्रकरण प्राप्त है।"

किन्तु जैन-शैली ज्ञाता किसी भी विद्वान से यह अज्ञात नहीं कि 'एगं णामे' और 'एगं विगिंचमाणे' का प्रयोग कर्मों के उपशम तथा क्षय ( निर्जरा ) की विचित्रता को बताने के लिए है। इन्हीं वाक्यों के आधार पर 'उपशम-करणादि' की विशेषताओं को प्रकाशित करनेवाले कर्म सिद्धान्त के अनेक महान् ग्रन्थ जैन वाङ्मय में है। 'एगं णामे' का 'एगं जाणइ' के साथ सर्वथा कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इन दोनों का जरा भी सम्बन्ध जोड़ना तत्व को भ्रान्तियुक्त ( Confounded ) तथा अर्थान्तरित करने के सिवा कुछ है ही नहीं। अलबत्ता 'एगं णामे' का सम्बन्ध 'एगं विगिंचमाणे' के साथ है जिसे पण्डितजी ने जान-बूझकर टाल दिया है। पण्डितजी की यह चाल तत्वज्ञों से कदापि छिपी नहीं रह सकती।

जैन वाङ्मय मे पद-पद पर सर्वज्ञ तत्व पर प्रकृष्ट भार दिया गया है। इसी छोटे से प्रसंग को लीजिये। इसमे 'पासगस्स दंसणं', 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ', 'सड्ढी आणाए मेहावी', 'लोगंच आणाए अभिसमेच्च' तथा 'किमत्थि उवाधिपासगस्स' इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किये गये है। इनके विशेषण 'उवरय सत्थस्स' आदि इनके सिवा और हैं। साधक दृढ निश्चय एवं आत्म-निष्ठा से सतत युक्त हो कि मैं जिस मार्ग का पथिक हूँ वह एक निरुपचरित, सर्वभाव ज्ञाता परमात्मा द्वारा उपदिष्ट एवं

दर्शित सर्वथा निस्सन्दिग्ध, निर्भ्रान्त तथा निश्चित ऐसा राजमार्ग है जो हमे, अपने ध्येय पर पहुचाए बिना रह ही नहीं सकता। 'एगं जाणइ' के ऐसे सुस्पष्ट सर्वज्ञ-भाव को उस तरह की घोर भ्रमात्मक चालो से भी अर्थान्तरित किया जा सकता है, यही देखने की चीज है।

'जे सव्व जाणइ से एगं जाणइ' यह पद ही इतना सुस्पष्ट एवं निस्संशय अर्थ का बोधक है कि सर्व या ब्रह्माण्ड के अखिल प्रपञ्च को जानने वाला ही एक पदार्थ के पूर्ण भाव को जान सकता है, अन्य कदाचित् नहीं। खास इसी उद्देश्य से ही यह पद यहा प्रयुक्त हुआ है। इसे दूसरी तरह से फलित करने की सर्वथा कोई गुजाइश ही नहीं। पर, बात ऐसी है कि अकल्प्य, ऋजुतामय एवं पुनरुक्ति-उपेक्षात्मक जिनवाणी से सत्य को तारना जितना कठिन है उतना ही अर्थान्तर मे परिणत कर उसे भ्रमात्मक बनाना भी सरल है। इसीका फायदा पण्डितजी ने उठाया है, यह कहने की भी जरूरत नहीं।

पण्डितजी लिखते है कि आध्यात्मिक साधना और जीवन शुद्धि के क्रम में आश्रव के ज्ञान और निरोध का ही महत्व है और त्रैकालिक समग्र भाव के ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता।

शाबाश है। विश्व मे दो मुख्य तत्व है—जीव और अजीव। क्या इनका नाम ले लेने ही से जड-चेतनमय विश्व के अखिल पदार्थों का समग्र ज्ञान हो जाता है? इसी तरह 'केवल आश्रव के ज्ञान और निरोध का ही महत्व है' इतना

कह देने ही से मानो आश्रव का ज्ञान भी हो जाता है और उसका निरोध भी। जैसे जीव और अजीव दो शब्दों में ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ समा जाते है वैसे ही आश्रव और उसका निरोध वा संवर मे समस्त विश्व-भाव समा जाता है। विश्व का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो इनकी परिधि मे नहीं आये। संसार और मोक्ष ब्रह्माण्ड के सर्वस्व ही इसी मे समाहित हैं।

आश्रव जीव को होता है और वह उसका अनादि-मित्र है। आश्रव के निरोध वा संवर तक जीव कैसे पहुँचता है और चिर-साथी से कैसे छुटकारा पाता है इसकी कथा कितनी लम्बी एवं कैसी अकल्प्य जटिलताओं एवं विचित्रताओं से भरपूर है, क्या इसकी कल्पना पण्डित जी ने कभी की है? क्या त्रैकालिक विश्वभाव के अणु-अणु के ज्ञाता के सिवा किसी की भी सामर्थ्य है जो इन आत्मघातक जटिलताओं एवं विचित्रताओं के अत्यन्त सूक्ष्म भावो को पकड़ सके और साधक की रक्षा कर सके?

यह सत्य ( Fact ) है कि भूतकाल मे आत्मा असीम मानवाले अनन्त गड्ढो में पुनः पुनः गिरता एवं फंसता आया है। तव प्रश्न होता है कि उससे बचानेवाला कौन? जिसने उन त्रैकालिक असीम पैमानेवाले गड्ढों को उनकी अनन्त प्रकार की मोहक आकर्षण-शक्तियों एवं रीति-नीतियों को सम्यक् प्रकार से देखा है, जाना है एवं उनसे पार पाया है वही, अन्य कदाचित् नहीं।

पंडितजी लिखते है कि "उसमे प्रश्न उठता है तो मूल दोष और उसके विविध आविर्भावों के जानने का और निवारण करने का। ग्रन्थकार ने वहाँ यही बात बतलाई है।"

मूलदोष और उसके विविध आविर्भावो को जानने की बात भी पंडितजी की दृष्टि मे उतनी भी है जितनी उपर्युक्त आश्रव और उसके निरोध की। जैसे आश्रव के प्रश्न मे समस्त त्रैकालिक विश्वभाव का ज्ञान सम्बन्धित है वैसे ही मूलदोष और उसके आविर्भावो को जानने मे भी। इसके सिवा कोई चारा ही नहीं है। अनन्त जटिलताओं से परिपूर्ण ( Full of infinite complications ) अनादि असाध्य भव-व्याधि ( eternal incurable worldly malady ) की चिकित्सा त्रैकालिक अनन्त विविधता एवं जटिलताओ का ज्ञाता सुवैद्य ही कर सकता है, दूसरा नहीं।

पंडितजी लिखते है कि "ग्रंथकार ने वहाँ यही बात बतलाई है।" इसी प्रकरण मे और इसी सिलसिले मे शास्त्रकार ने 'सड्ढी आणाए मेहावी' 'लोगंच आणाए अभिसमेच्च अकुतो भयं' वाक्यो का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह है कि प्रखर-बुद्धि साधक सर्वज्ञ-वाणी ही से लोक के स्वरूप को आत्मसात् करके भय रहित वा संसार की विचित्रतया मोहक एवं आकर्षक अनन्त खाइयों और गड्ढो मे फँसने से सर्वथा और सदा के लिये मुक्ति पाने वाला हो सकता है। तुलना कीजिये कि ग्रंथकार क्या कहते है और पंडितजी का कथन क्या है?

क्या इसमें और उसमें जमीन आसमान का अंतर नहीं है ? एक कहता है कि सर्वज्ञ-मूला ही साधना है, दूसरा कहता है कि इसकी जरुरत ही क्या ?

पंडितजी लिखते हैं कि "इतना ही नहीं, बल्कि उस प्रकरण को खतम करते समय उन्होंने यह भाव 'जे कोहदंसी से माणदंसी 'इत्यादि शब्दों में स्पष्ट रूप में प्रकट भी किया है।"

उपर्युक्त 'जे कोहदंसी से माणदंसी' आदि जो वाक्य हैं उनका भी अर्थ स्पष्ट है कि 'सड्ढी आणाए मेहावी'—मेधावी साधक सर्वज्ञ वाणी का आधार लेकर ही स्व विचक्षण बुद्धि से क्रोधादि के परिणामों की भयंकरता को हृदयंगम कर लेता है, यहा तक कि नरक तिर्यन्त के स्वरूप की झांकी लेता हुआ इन सबका निचोड एकमात्र अविच्छिन्न दु ख के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, यह अच्छी तरह समझ लेता है। और इनसे पूर्णतया निवृत्त होकर अचिन्त्य, अनुपम, अक्षय, सच्चिदानन्दमय स्थिति का स्वामी बनता है। यहा भी शास्त्रकार ने सर्वज्ञ वाणी की ही महिमा गायी है। पंडितजी जी-चाहे जितनी चाल चलें पुनः पुन· निर्देशित 'सर्वज्ञत्व' द्योतक वाक्यों को कहा तक छिपायेंगे ? इतना ही नहीं शास्त्रकार ने 'किमत्थि उवाधि पासगस्स' वाक्य द्वारा सर्वकालिक, सर्वभाविक निरुपचिरत सर्वज्ञत्व के स्वरूप को और भी स्पष्ट कर दिया है।

पंडितजी लिखते है कि "जैन परम्परा मे सर्वज्ञत्व का असली अर्थ आध्यात्मिक साधना मे उपयोगी सब तत्वों का

ज्ञान यही होना चाहिये , नहीं कि त्रैकालिक समग्र भावों का साक्षात्कार।"

आध्यात्मिक साधना में उपयोगी सब तत्त्वों का ज्ञान तब तक हो ही नहीं सकता, जब तक त्रैकालिक समग्र भावों का साक्षात्कार न हो। जैसा कि "आश्रव और उसके निरोध के सम्बन्ध मे ऊपर बतलाया ही गया है कि समस्त ब्रह्माण्ड के अखिल पदार्थों के पूर्ण त्रैकालिक भाव के ज्ञान बिना आश्रव और उसके निरोध की अनन्त विचित्रता एव विविधता का पूर्ण ज्ञान हो ही नहीं सकता और पूर्ण ज्ञान के अभाव मे आश्रव की पूर्ण क्षीणता का मानदंड ही क्या? इसके अतिरिक्त तथाप्रकार के मोक्ष ( मोक्षाभास ) से आत्मा न जाने कैसी विडम्बना का शिकार होकर किस समय संसार मे पुनरागमन करेगी इसका परीक्षक भी कौन ? सिवा त्रैकालिक सर्वज्ञ के दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। त्रैकालिक व्याधि का इलाज त्रैकालिक ज्ञान-धर सुचिकित्सक के बिना सम्भव ही नहीं।

शास्त्रकार ने स्वयं यहीं 'अत्थि सत्थं परेणपरं' वाक्य द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि शस्त्र (आत्म-विमुख भाव) वा आश्रव, आत्मपतन की असीम अनन्त भीषणताओं एवं विचित्रताओ से युक्त है। एवं भयङ्करत्व की दृष्टि से द्रव्यतः जैसा यह असीम, अनन्त है वैसा ही क्षेत्र, काल भावादि दृष्टियो से भी है। अतः इसकी चिकित्सा करनेवाला कोई असीम,अनन्त वा सर्वकालिक, सर्वक्षेत्रिक, सर्वभाविक विशिष्ट ज्ञानधर ही हो सकता है, अन्य

कदाचित नहीं। यही शास्त्रकार ने इस छोटे से प्रकरण मे शब्द-शब्द द्वारा व्यक्त किया है। 'आणाए' आदि निरुपचरित (उपाधि-रहित) सर्वज्ञत्व सूचक शब्दों की पुनः पुनः उक्ति यही उद्घोषणा कर रही है जिसको उडाने में पण्डितजी ने कुछ उठा नहीं रखा।

गर्भ, जन्म, मरण, नरक, तिर्यंचादि भावों का उल्लेख भी संकेत करता है कि आश्रव का क्षेत्र कितना विशाल एवं अमान है। इससे भी पंडितजी ने कितनी चतुराई एवं कौशल से दो शब्दों में आश्रव और संवर को नाप करके अपना मन्तव्य सिद्ध करने की दुश्चेष्टा की है इसका पता अच्छी तरह चल जाता है।

पूर्व प्रसंगों की तरह इस प्रसंग में भी पंडितजी ने किस तरह भीषणतया सत्य को अर्थान्तरित एवं अपलापित किया है, यह दिन की तेज रोशनी की तरह साफ है।

---

# श्री भगवती-सूत्र प्रसङ्ग

पण्डितजी (पृष्ठ ५५६-५७ मे) लिखते है कि "उक्त वाक्यों को आगे के तार्किकों ने एक समय मे त्रैकालिक भावों के साक्षात्कार अर्थ मे घटाने की जो कोशिश की है वह सर्वज्ञत्व-स्थापन की साम्प्रदायिक होड का नतीजा मात्र है। भगवती सूत्र में

महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति और जमाली का एक संवाद है जो सर्वज्ञत्व के अर्थ पर प्रकाश डालता है। जमाली महावीर का प्रतिद्वन्द्वी है। उसे उसके अनुयायी सर्वज्ञ मानते होगे। इसलिए जब वह एक बार इन्द्रभूति से मिला तो इन्द्रभूति ने उससे प्रश्न किया कि कहो जमाली! तुम यदि सर्वज्ञ हो तो जवाब दो कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जमाली चुप रहा तिस पर महावीर ने कहा कि तुम कैसे सर्वज्ञ? देखो इसका उत्तर मेरे असर्वज्ञ शिष्य दे सकते है तो भी मैं उत्तर देता हू कि द्रव्यार्थिक दृष्टि से लोक शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत। महावीर के इस उत्तर से सर्वज्ञत्व के जैनाभिप्रेत अर्थ के असली स्तर का पता चल जाता है कि जो द्रव्य-पर्याय उभय दृष्टि से प्रतिपादन करता है वही सर्वज्ञ है। महावीर ने जमाली के सम्मुख एक समय मे त्रैकालिक भावो को साक्षात् जाननेवाले रूप से अपने को वर्णित नहीं किया है। जिस रूप मे उन्होंने अपने को सर्वज्ञ वर्णित किया वह रूप सारी जैन परम्परा के मूल गत श्रोत से मेल भी खाता है और आचारांग के उपर्युक्त अति पुराने उल्लेखो से भी मेल खाता है। उसमे न तो अत्युक्ति है, न अल्पोक्ति, किन्तु वास्तविक स्थिति निरूपित हुई है। इसलिए मेरी राय मे जैन परम्परा मे माने जानेवाले सर्वज्ञत्व का असली अर्थ वही होना चाहिए न कि पिछला तर्क से सिद्ध किया जानेवाला एक समय मे सर्वभावो का साक्षात्कार रूप अर्थ।"

उपर्युक्त श्री भगवती-सूत्र का श्रीजमाली सम्बन्धीय मूल पाठ और उसका अर्थ इसीलिए नीचे दिया जा रहा है, उसे भी पाठकगण गम्भीरतया देखें :—

तएणं से जमाली अणगारे अण्णयाकयाइं ताओ रोगातंकाओ विप्पमुक्के हट्ठे तुट्ठे जाए अरोए वलिय सरीरे, सावत्थीओ णयरीओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे, जेणेव चंपाणयरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी जहाणं देवाणुपियाणं बहवे अन्तेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंता, णो खलु अहं तहाचेव छउमत्थे भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंते, अहं णं उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवली अवक्कमणेणं अवक्कंते। तएणं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं एवं वयासी णो खलु जमाली। केवलिस्स णाणेवा दंसणेवा सेलंसिवा, थभंसिवा, थूभंसिवा आवरिज्जइवा णिवारइज्जइवा, जइणं तुम्मं जमाली। उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवली अवक्कमणेणं अवक्कंते ताणं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहिं, सासए लोए जमाली। असासए लोए जमाली ? सासए जीवे जमाली। असासए जीवे जमाली ? तएणं से जमाली अणगारे भगवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए जाव कलुससमावण्णे

जाए यावि होत्था, णो संचाएइ भगवओ गोयमस्स किंचिवि पामोक्ख माइक्खित्तए, तुसिणीए संचिट्ठइ। जमाली! समणे भगवं महावीरे जमालि अणगारं एवं वयासी अत्थिणं जमाली! ममं वहवे अन्तेवासी समणा निग्गंथा छउमत्था जेणं पभु एयं वागरणं वागरित्तए जहाणं अहं णो चेवणं एतप्पगारं भासं भासित्तए जहाणं तुमं। सासए लोए जमाली! जं ण णकदायि णासि णकदायि णभवइ णकदायि णभविस्सइ, भुविंच भवइ भविस्सतिय धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। असासए लोए जमाली! जं ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ उस्सप्पिणो भवित्ता ओसप्पिणी भवइ। सासए जीवे जमाली! जं णकदायि णासि जाव णिच्चे, असासए जीवे जमाली! जं णं णेरइए भवित्ता तिरिक्ख जोणिए भवइ, तिरिक्ख जोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ, मणुस्से भवित्ता देवे भवइ॥

अर्थ—तब वह जमाली अनगार अन्यदा कदापि उस रोगातक से विमुक्त हृष्ट तुष्ट होकर नीरोग वलिष्ठ-शरीर श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक चैत्य से निकल कर क्रमानुक्रम चलता हुआ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ जहा चपानगरी और पूर्णभद्र चैत्य है और जहा श्रमण भगवान महावीर है वहा आया। वहा आकर श्रमण भगवान महावीर के न नजदीक और न दूर खड़ा रहकर भगवान से यो बोला कि जैसे देवानुप्रिय के वहुत अंतेवासी श्रमण निर्ग्रन्थ छद्मस्थ होते हुए छद्मावस्था के गुरुकुलवासी है, निश्चयतः मै वैसा नहीं जो

छद्मस्थ गुरुकुलसेवी होऊॅ। मैं उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधर अर्हन् जिन केवली होकर केवल-ज्ञान युक्त हूॅ। तव भगवान गौतम स्वामी ने जमाली अनगार को ऐसा कहा कि जमाली! केवली का ज्ञान-दर्शन पर्वत, स्तम्भ, स्तूप से आवरित, निवारित नहीं होता। यदि तुम जमाली! उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधर अर्हन् जिन केवली होकर केवल-ज्ञानयुक्त हो तो इन दो प्रश्नों की व्याख्या करो—लोक शाश्वत है जमाली! वा अशाश्वत? जीव शाश्वत है जमाली! वा अशाश्वत? तब वह जमाली अनगार भगवान गौतम द्वारा इस तरह पूछे जाने पर शकित काक्षित यहा तक कि कालुष्य-समापन्न होकर भगवान गौतम के प्रश्नों का कुछ भी समाधान नहीं कर सका और चुप बैठा रहा। जमाली! श्रमण भगवान महावीर, जमाली अनगार को यों वोले कि मेरे अनेक अंतेवासी छद्मस्थ निर्ग्रंथ श्रमण ऐसे है जो इन प्रश्नों की व्याख्या मेरी तरह कर सकते है तथापि वे तुम्हारे जैसी भाषा नहीं वोलते, जमाली! लोक शाश्वत है—जो न कदापि नहीं था, नहीं है और नहीं रहेगा। वह था, वह है और रहेगा—ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित एवं नित्य, लोक अशाश्वत भी है जमाली! जो अवसर्पिणी होकर उत्सर्पिणी होता है, उत्सर्पिणी होकर अवसर्पिणी होता है। जीव शाश्वत है जमाली!—जो न कदापि नहीं था, नहीं है और नहीं रहेगा यावत् नित्य तक। जीव अशाश्वत भी है जमाली!—जो नारक होकर

तिर्यक् होता है, तिर्यक् होकर मनुष्य होता है, मनुष्य होकर देव होता है ॥

पंडितजी उपर्युक्त उद्धरण ( पृष्ठ-५५६ ) में लिखते है कि "जमाली चुप रहा तिस पर महावीर ने कहा कि तुम कैसे सर्वज्ञ ? देखो उसका उत्तर मेरे असर्वज्ञ शिष्य दे सकते है तो भी मैं उत्तर देता हूँ।"

श्री भगवती सूत्र का सम्बन्धित मूल पाठ इसीलिये यहा दिया गया है कि विद्वद्वर्ग गंभीरतया देखें कि वास्तविकता क्या है। भगवान ने जमाली (जो उन्हीं का शिष्य था) को सम्बोधन कर जो कुछ संक्षेप मे उससे कहा है उसमे उनका उसके प्रति कितना गंभीर हितैपितामय आशय था, यही देखने की चीज है। उसे शास्त्रार्थ मे हार खिलाने के उद्देश्य से नहीं ( क्योंकि वे तो वीतराग है ) अपितु भूले-भटके शिष्य के नाते कि उसे कुछ चेत आये और अभी नहीं तो भविष्य में भी कभी संभल जाये।

भगवान ने कहीं भी जमाली को ऐसा नहीं कहा है कि 'तुम कैसे सर्वज्ञ'। न भगवान ने यह कहा है कि "तो भी मैं उत्तर देता हूं'। यह भयंकर मिथ्या-भाषण है, वास्तविकता की हत्या है।

भगवान अनन्त ऋजुता से ओतप्रोत है। केवल साम्य-भाव-मय है। अनन्त प्रशम-रस के निर्झर है। एकमात्र सर्व जीव-हितैषिता-भावमय ही उनकी आत्मा है। अहंभाव आदि किसी भी दोष को अणुमात्र भी जिनमे स्थान नहीं है। ऐसे

वीतराग परमात्मा को 'तुम कैसे सर्वज्ञ' आदि मिथ्या-भाषण एवं निहायत भद्दे तरीके से पंडितजी ने चित्रित किया है, मानो कोई घमंडी छोकरा अपने दुश्मन को ललकारता हो।

भगवान अनन्त प्रकाशमय है। ऐसे अनन्त प्रकाश में स्वाभाविकतया केवल प्राणी-हितमय वाणी ही उनके द्वारा उच्चरित होती है। सर्व कृत्रिमताओं से सर्वथा रहित परमात्मा द्वारा 'जमाली' को जो भी हित-मित उपदेश चेतावनी रूप में (कि ऐसी अयथार्थ भाषा चिर दुःखमय भव-भ्रमण का हेतु है) दिया गया है, उससे उसका आत्म-हित कालान्तर मे भी सुनिश्चित है।

पंडितजी इसी प्रसंग में लिखते हैं कि "द्रव्यार्थिक दृष्टि से लोक शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत। महावीर के इस उत्तर से जैनाभिप्रेत अर्थ के असली स्तर का पता चल जाता है कि जो द्रव्य-पर्याय उभय दृष्टि से प्रतिपादन करता है वही सर्वज्ञ है।"

वास्तव में पंडितजी की इस युक्ति ने कमाल कर दिया है। भगवान ने प्रसंगानुसार एवं पात्र की योग्यतानुसार संक्षिप्त तथा स्थूल व्याख्या की इसका अर्थ यह हुआ कि वे इससे अधिक कुछ नहीं जानते थे? केवल-ज्ञान की इतिश्री इसीमे है? कोई प्रकाण्ड विद्वान् यदि किसी पहली कक्षा के बच्चे को 'अ आ' आदि पढ़ाता है तो इसका मतलब यही है कि वह विद्वान 'अ आ' जितना वा इससे कुछ अधिक जाननेवाला ही है?

ज्ञान नापने का यह दंड क्या ही सुन्दर एवं अजीब है। महावीर का समस्त ज्ञान यहीं उंडेला जाना चाहिये ? शिक्षक भी अपने विशद ज्ञान का खजाना प्राथमिक श्रेणी के बच्चो के सामने खाली कर दे। मालूम होता है कि बुद्धि और विवेक का चरमोपयोग पंडितजी ने यहीं कर डाला है।

पंडितजी इसी प्रसंग मे लिखते है कि "महावीर ने जमाली के सम्मुख एक समय मे त्रैकालिक भावो के साक्षात् जाननेवाले रूप से अपने को वर्णित नहीं किया है।"

मानो महावीर बात-बात मे ढिंढोरा पीटते रहते थे कि वे त्रैकालिक सर्वज्ञ है। जैन वाङ्मय मे वीतरागतामूलक सर्वज्ञत्व वा निरुपचरित सर्वज्ञत्व का जहा भी जिक्र आया है उसका सर्वथा निस्संशय, निर्विवाद एवं सर्वमान्य अर्थ है निरुपचरित सर्वज्ञत्व वा एक समय मे त्रैकालिक समग्र भावो को साक्षात् जानना। इसके सिवा दूसरा अर्थ है ही नहीं, हुआ भी नहीं और होगा भी नहीं।

ज्ञान के मुख्य दो भेद है—परोक्ष और प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष के भी दो भेद है—देश-प्रत्यक्ष और सर्व-प्रत्यक्ष। सर्वप्रत्यक्ष ज्ञान—सर्वज्ञत्व वा त्रैकालिक समग्र भावो का साक्षात्कार एक ही है। "से तं केवलनाण, से तं पच्चक्खनाणं"—नंदी सूत्र २३। ये सभी भेद महावीर परमात्मा द्वारा प्ररूपित है। अनुभूत सत्य पर अवलंबित है, न कि कल्पना कि उड़ान हैं।

जैनाभिप्रेत अर्थ के असली स्तर का पता चलाने वाले

'पंडितजी को क्या यह भी ज्ञात है कि जिनवाणी में नय के मुख्य दो विभाग—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भी कोई भेद हैं ? क्या नैगमादि कम-से-कम सात नय और इनमें से प्रत्येक के सौ-सौ भेद और अपनी बुद्धि अनुसार जो जितना विस्तारित कर सके यहा तक कि अनन्त भेद नहीं वतलाये गये है ? पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है अतः उन अनन्त धर्मों की अभिव्यक्ति भी अनन्त प्रकार से होती ही है। यही नय के अनन्त भेद का हेतु है जो एकमात्र सर्वज्ञ का ही विषय हो सकता है।

इसके अलावा पदार्थों एवं उनके ज्ञान की अमान विशालता को वतलानेवाले वाक्य अनभिलाप्य, अभिलाप्यादि भी जिन-वाणी मे मिलते है—"पन्नवणिज्जा भावा अणंतभागोतु अणभिलप्पाण। पन्नवणिज्जाण पुण अणंतभागो सुयनिवद्धो" (नंदी सूत्र भाष्य)। अनभिलाप्य पदार्थ अनंतानंत हैं, जिसे 'गूगे का गुड' न्यायानुसार सर्वज्ञ भी वाणी द्वारा प्रकट नहीं कर सकता, सिर्फ देख वा जान सकता है। उसका अनन्तवा भाग अभिलाप्य है जिसका क्षेत्र भी इतना विशाल है कि सर्वज्ञ वहुत लम्बे जीवन काल तक भी उसका वर्णन करे तो सिर्फ उसका अनन्ताश ही वर्णन कर सकता है। क्या ये सब 'महावीर' के वाक्य नहीं हैं ? तव क्या 'आश्रव और उसका निरोध' की तरह दो द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक शब्दो मे 'महावीर' के ज्ञान को नापनेवालों की वुद्धि कितनी संकुचित

और ब्रह्मांड के भाव कितने विशाल एवं विचित्र है, यह पता नहीं चलता ?

जैनाभिप्रेत असली स्तर के पता चलानेवाले पंडितजी ने क्या कभी यह भी सोचा है कि नींद मे सोया हुआ एक अदना आदमी स्वप्नावस्था में भी जब अपने मन के जरिये विश्व के एक छोर से दूसरी छोर का एक क्षण मे चक्कर लगा मारता है और न जाने उसी क्षण मे ही कैसी-कैसी सैर कर गुजरता है तब उस मन के स्वामी आत्मा की उससे भी कितनी अमानतया अधिक विशेपता, क्षमता एवं ज्ञान-गरिमा हो सकती है ? इसी तरह मनुष्य दिन की उलझी हुई कठिन समस्याओ एवं गणित आदि के अंकों का समाधान रात्रि की स्वप्नावस्था मे कर डालता है, क्या इससे यह पता नहीं चलता कि सोये हुए शरीर से भिन्न उसीमे रहनेवाला कोई एक अकल्प्य तेजस्वी पदार्थ और भी है जिसके सामर्थ्य की कोई सीमा बाधी ही नहीं जा सकती। ऐसी अचिन्त्य विशिष्टता वाला वह आत्मा नाम का पदार्थ जब अपनी पूर्ण निर्मल स्वाभावावस्था को प्राप्त करता है तब उसके विशिष्टत्व वा ज्ञान-गौरव का क्या कभी मान हो सकता है ? यह सत्य है कि जैनाभिप्रेत तत्व के प्रणेता 'आत्मा' की इस अचिन्त्य क्षमता का पार पा चुके थे। इस कराल भौतिक युग (dreadful material era) मे भी इसके हजारों सबूत ( proofs ) है, बशर्ते किसी मे ताकत हो उन्हें ढूढ निकालने की और इमानदारी से समझने की। किंतु super-

ficial observers ( वाह्य-दर्शियों ) के लिये सभी धौला-धौला दूध है।

जैनाभिप्रेत असली स्तर पर भीषण पर्दा डालकर तत्व की जड़ उखाडने वाले पंडितजी को यह पता नहीं कि जैनाभिप्रेत तत्वज्ञों ने जीव और जड़ पर जो अमित प्रकाश डाला है वह प्रत्यक्ष सत्य है। 'गुणपर्यायवत् द्रव्यम्'—आत्मा और जड दोनों ही अनन्त गुण ( qualities ) और पर्याय ( modes ) वा धर्म युक्त हैं। इस तत्वमय रहस्य को जिसने जगत के समक्ष रखा, क्या वह अनन्त ज्ञानी नहीं था? विना दूरवीक्षणादि यंत्रो की सहायता के जिसमे वस्तु के गर्भ में रहे हुए अत्यन्त गंभीर धर्म को प्रकट करने की शक्ति थी, क्या वह ज्ञान की चरम सीमा का पारगामी नहीं था? यदि आज भी जो टूटी-फूटी वची-खुची जिनवाणी है, वह न होती तो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (पशु-पक्षी, मनुष्य) विषयक जीव-विज्ञान, जो सर्वथा अनुभूत सत्य पर आधारित है, विश्व के नक्शे से यथार्थ में ही लोप हो गया होता?

पदार्थ-भाव वा वस्तुधर्म अनन्त सूक्ष्म है, यह जिनवाणी में जगह-जगह निर्देश किया गया है। अर्थात् पदार्थ का आभ्यन्तर चित्र वा रूप इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म है कि वह न तो इन्द्रिय-गम्य है और न यन्त्रादि सहाय से भी जाना जा सकता है। यह अतीन्द्रिय वा प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय हो सकता है।

वैसे सूक्ष्मत्व को शब्द द्वारा प्रकट करना भी असम्भव है। उसकी स्थूल रूपरेखा ही जन-समूह को दी जा सकती है। उस स्थूलतया व्यक्त भाव के अन्तस्तल मे कितना गम्भीर रहस्य भरा पडा है, उसे ओझल कर प्ररूपक द्वारा कथित केवल वाह्य शब्दों के सामान्य रूप को दिखा कर उसके ज्ञान या क्षमता का मान ( measure ) करना, यह जघन्य छिद्रान्वेषण के सिवा और क्या हो सकता है? जैनाभिप्रेत असली स्तर के पता लगाने का यह तरीका खतरनाक धोखे की टट्टी है, यह कहने की भी जरूरत नहीं रहती। वस्तु धर्म की सूक्ष्मता के सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री आइंस्टीन ( Einstein ) भी यही कहते है :—

"A statement which does not profess to deal with anything except appearances may be true; a statement which is not only true but deals with the realities beneath the appearances is really true"—भावार्थ यह कि 'वाह्य-रूप को देखकर वस्तु का स्वरूप वतानेवाला ठीक हो सकता है किन्तु वास्तव मे वस्तु के उदर मे निहित गाम्भीय का ज्ञाता ही वस्तु का यथार्थ प्ररूपक है।'

भगवान ने जमाली-प्रसंग में यह भी कहा है कि मेरे अनेक छद्मस्थ निर्ग्रन्थ श्रमण भी ऐसे है जो मेरी तरह ( मति और श्रुत ज्ञान के बल पर ) ऐसे प्रसंगो की व्याख्या कर सकते है। तव

फिर भगवान और उनमें फर्क ही क्या ? 'छद्मस्थत्व' (असर्वज्ञत्व) कोई वस्तु है तो 'सर्वज्ञत्व' भी कोई वस्तु होनी चाहिये। जहां छद्मस्थ श्रमण में भी समाधान करने की इतनी प्रवीणता है वहा सर्वज्ञ परमात्मा मे इसके अलावा भी कोई विशेषता होगी ? क्या छद्मस्थ शब्द के प्रयोग द्वारा, परमात्मा महावीर ने स्वयं ही यहाँ 'सर्वज्ञत्व' कोई पदार्थ है और उसका मान कुछ और ही है, यह पृथक्करण ( Distinction ) नहीं कर दिया है ? छद्मस्थ श्रमण भी जब परमात्मा महावीर की तरह व्याख्या करने की योग्यता वाले है तब सर्वज्ञ महावीर की योग्यता की विशिष्टता कोई विचित्र ही होगी ? फिर भी क्या कोई सत्य का दम्भ भरनेवाला यह कह सकता है कि महावीर का ज्ञान द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक के कथन जितना ही है ?

'आश्रव और उसका निरोध' वा 'जीव और अजीव' शब्द तो दो-दो है। किन्तु अखिल ब्रह्माण्ड का प्रपञ्च इन प्रत्येक का विषय हो जाता है। चराचर विश्व का अणु भी ऐसा नहीं जो इन दोनों का विषय न हो। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भी इन्हीं जैसा द्वन्द्व हैं। उसमे भी अखिल विश्व के त्रैकालिक भाव समा जाते है। स्थूल दृष्टि से मुख्य शब्दों मे पदार्थ का विवेचन पात्र की योग्यतानुसार किया जाता है। आह, यही वर्णन उसके ज्ञान का मानदंड हो गया ! क्या ऐसा कहनेवाले सरीहन सत्य को हँसी मे उड़ाने के लिए उतारू हुए हैं, इसमे भी किञ्चित् संदेह रह जाता है ?

पंडितजी लिखते है कि "जिस रूप में उन्होंने अपने को सर्वज्ञ वर्णित किया वह रूप सारी जैन परम्परा के मूलगत श्रोत से भी मेल खाता है ........., किन्तु वास्तविक स्थिति निरू-पित हुई है।"

मिथ्या भाषण एवं सत्यापहरण के कौशल का नमूना इससे बढकर शायद ही कोई मिल सकता है। समस्त उपलब्ध प्रामाणिक जैन वाङ्मय की बात को ही छोड़ दीजिये। पडितजी ने जिन आचार्यों के जिन प्रसंगो को खंडन योग्य चुना है उनको ही लीजिये। ऋषि-पुगव कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार के श्लोक संख्या १६७-१६८ द्वारा यह सूर्य-रश्मि की तरह स्पष्ट कर दिया है कि समग्र त्रैकालिक भावो को साक्षात्कार करनेवाला अतीन्द्रिय एवं प्रत्यक्ष ज्ञान ही सर्वज्ञत्व है, अन्य कदाचित् नहीं। परमर्षि हरिभद्र सूरि ने 'निरुपचरित', 'मुख्य', 'सर्वज्ञो नाम कश्चि-दर्हदादिः परमार्थिक एव हि', 'ऋषभादि लक्षणे सति प्रतिपत्ति-स्ततस्तस्य','विशेषस्तु पुनस्तस्य कात्स्न्येंनासर्वदर्शिभि· सर्वैर्न ज्ञायते', 'निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्थ योगिज्ञानादृते न च', आदि वाक्यों द्वारा, श्री आचाराग के उक्त प्रकरण मे 'सव्वं जाणइ से एगं जाणइ' तथा 'किमत्थि उवाधिपासगस्स' आदि पदो द्वारा तथा अन्तिम श्री भगवती सूत्र मे भी स्वयं परमात्मा महावीर के छद्मस्थ और सर्वज्ञ शब्दों के प्रयोग से फलित पृथक्करण द्वारा, यह सर्वथा स्पष्टातिस्पष्ट एवं सुनिश्चित रूप से प्रकट है कि सर्वज्ञत्व कोई काल्पनिक वा सामान्य पदार्थ नहीं, अपितु वह अनंत विशिष्टता

से पूर्ण अलौकिक, अतीन्द्रीय, प्रत्यक्ष एवं आत्मानुभव-सम्मत वास्तविक ज्ञान है, जिसके विषय त्रिकाल के समस्त सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव भी पूर्णरूपेण है।

इसके अलावा सारा जैन वाङ्मय ही इसी निरुपचरित सर्वज्ञत्व की साक्षी दे रहा है। उपलब्ध समस्त प्रामाणिक जैन प्रवचन मे कहीं जरा भी ऐसी गंध नहीं, जो त्रैकालिक समग्र भाव के साक्षात्कार की किञ्चित्मात्र न्यूनता को भी सूचित करता हो, इसीलिये श्री नन्दीसूत्र का एक पाठ यहा दिया जा रहा है—

तत्थ दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओ णं केवलनाणी सव्वं खित्तं जाणइ पासइ, कालओ ण केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओ णं केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ। अह सव्व दव्व परिणाम भाव विण्णत्ति कारणमणंतं। सासयप्पडिवाइ एगविहं केवलनाणं।

॥५८॥( नन्दी सूत्र २२)

इसका अर्थ यह है कि सर्वज्ञ परमात्मा द्रव्यतः सर्वद्रव्यों को जानते देखते है, क्षेत्रतः सर्व क्षेत्रो को जानते देखते है, कालतः सर्व कालों (अतीत अनागत वर्त्तमान` को देखते जानते हैं, और भावतः सर्व भावों वा पदार्थ-निहित अनन्त गुण पर्यायों को देखते जानते है। अथ सर्व द्रव्य (अखिल पदार्थों को) परिणाम (पर्यायों) भाव (धर्मों) की विज्ञप्ति (विज्ञान) का हेतु अनंत शाश्वत, अप्रतिपाती ( अपतनशील ) एकविध केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व) है।

क्या उपर्युक्त वाक्य परमात्मा महावीर के नहीं है ? क्या उन्होंने केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व समस्त पदार्थों का सर्वकाल सर्वधर्म, गुण, परिणतियों सहित विषय करने वाला सर्वातिशायी शाश्वत अक्षय प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह निर्भ्रान्ततया एवं सुनिश्चिततया उपर्युक्त वाक्यों द्वारा उद्घोषित नहीं कर दिया है ? क्या मूलगत स्रोत इसके अलावा भी कोई चीज है ? तिस पर भी मूलगत स्रोत की सर्वथा हत्या करके केवल असत्य की अत्युक्ति एवं सत्य की अल्पोक्ति ही नहीं अपितु सर्वथा जड़ उखाडने वाले तथा वास्तविक स्थिति को लोप करने वाले पंडित जी कहते है कि मेरी युक्ति मूलगत स्रोत से मेल खाती है, उसमे न अत्युक्ति और न अल्पोक्ति है, किन्तु वास्तविक स्थिति निरूपित हुई है। हत्या करके खूनसे हाथ लाल है फिर भी कहा जाये कि मैंने तो कोई 'नयी बात नहीं कही है'! इसका भी जगत मे कोई इलाज है ?

पंडित जी पृष्ठ ५५७ मे लिखते है कि "इस अर्थ की जमाली-इन्द्रभूति-संवाद से तुलना की जाय, तो इसमे सन्देह ही नहीं रहता कि जैन परम्परा का सर्वज्ञत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण मूल मे केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समान भाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है।"

मालूम होता है कि पंडित जी ने युगधर्म (zeitgeist) की एक ही चाल को पकड़ लिया है कि किसी ईमानदार को भी यदि चोर साबित करना है तो तुम चोर हो—चोर हो, कहते ही

रहो, पीछा मत छोड़ो, अपने आप दुनिया समझेगी कि वह चोर है, कहने वाला सच्चा है। भ्रान्तिप्रचार और उसके जरियों की भी कोई हद होती है। ऊपर यह बतलाया ही गया है कि जिनवाणी के अनुसार ब्रह्माण्ड-स्थित सर्व द्रव्यों के सर्वक्षेत्रिय सर्वकालिक, सर्वभाविक (अनंत गुण पर्याय सहित) प्रत्यक्ष ज्ञान का नाम ही सर्वज्ञत्व वा केवलज्ञान है। जमाली-इन्द्रभूति संवाद की असलियत के सम्बन्ध मे ऊपर कुछ प्रकाश डाला ही गया है। इस प्रसंग मे भी आपने किस तरह भीषण लीपापोती से सत्य पर पर्दा डाल कर अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है, यह साफ है।

वेदान्तिक महर्षियों ने उपनिषदों मे जो कहा है कि एक ब्रह्मतत्व के जान लेने पर सब अविज्ञात विज्ञात हो जाता है, बिलकुल यथार्थ है। क्योंकि ब्रह्म को या आत्मा के परमात्म-भाव को जान लेने से आत्मा अनात्मीय-भाव वा विभाव का परित्याग कर अतीन्द्रिय सर्व-प्रत्यक्ष-ज्ञान वा त्रैकालिक सर्वज्ञत्व का पूर्णाधिकारी बनेगा ही।

पंडितजी पृष्ठ ५५८ के शेषांश मे लिखते हैं कि "जब कि जैन-परम्परा मे सर्वज्ञ का सीधा सादा अर्थ भुला दिया जाकर उसके स्थान मे तर्क सिद्ध अर्थ ही प्रचलित और प्रतिष्ठित हो गया है और उसी अर्थ के संस्कार मे पलनेवाले जैन तार्किक आचार्यों को भी यह सोचना अति मुश्किल हो गया है कि एक समय मे सर्व भावों के साक्षात्कार रूप सर्वज्ञत्व कैसे असंगत है?

इसलिए वे जिस तरह हो, मामूली-गैरमामूली सब युक्तियों से अपना अभिप्रेत सर्वज्ञत्व सिद्ध करने के लिए ही उतारू रहे है"

मालूम होता है कि पंडितजी को 'तर्क और नवीनता'-का mania और तर्क से भी परे सत्य है और प्राचीन काल मे भौतिक विज्ञान के ही नहीं अपितु उससे अत्यन्त उर्ध्व आध्यात्मिक विज्ञान के भी अद्भुत ज्ञानी थे, इसकी बदहजमी हो गई है। उन्हें केवल तर्क ही सर्वस्व है, सूझ रहा है। उन्हें पता नहीं कि ब्रह्माड के सूक्ष्म भाव तर्क से परे की चीज है। आचार्यों ने प्रसंगानुसार तर्क का भी उपयोग जरूर किया है, किन्तु वहीं तक जहा तक कि उसकी हद है। जैन और वैदिक दोनों ही दर्शनो के महापुरुषो ने यह माना है कि ब्रह्माड के पदार्थ अनन्त विस्मयपूर्ण भावो से परिपूर्ण है और ऐसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय भाव हेतुवादगम्य नहीं है—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमैवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम्॥" कठोपनिषद्—१-२-२३॥ 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥" कठो—१-३-१२॥ ये वाक्य काल्पनिक नहीं, अपितु पूर्णतया स्वानुभव-सिद्ध एवं सत्य है। इसीलिये आत्मोपलब्धिमय दिव्य ज्योति से आलोकित आचार्यों को यह सोचना अति मुश्किल होगया कि ऐसे प्रत्यक्ष स्वानुभवाधारित महासत्य रूप 'त्रैकालिक सर्वज्ञत्व' को आत्मा की हत्या करके पंडित जी की युक्ति अनुसार इनकार भी किया

जाये तो कैसे ? उस समय भी पंडित जी जैसे शुष्क तार्किकों की कमी नहीं थी। उन्हें रात-दिन उनसे टक्कर लेनी पड़ती थी। यही कारण है कि वे अभिप्रेत सर्वज्ञत्व को यथाशक्ति युक्ति-संगततया एवं अन्य यथार्थ जरियों से भी सिद्ध करने के लिये हर समय उतारू रहे हैं, न कि पुरानी लकीर पीटने के लिये। यह साम्प्रदायिक होड़ नहीं, तत्वज्ञान की होड़ थी और इसीकी यथावत् प्ररूपणा के लिये उन्होंने सब कुछ न्योछावर किया।

जहा तक तर्क का सम्बन्ध है साधारण जनता को सुतर्क द्वारा भी महात्माओं ने समझाया है। 'गूंगे के गुड' की तरह जो अनुभव-गम्य है और जहा तर्क की पहुच ही नहीं है वहा तर्क त्याज्य होना ही चाहिये। कोई प्रश्न करे कि 'दर्पण' मे 'प्रतिबिम्बित्व' धर्म क्यों है ? इसका उत्तर इतना ही है कि उस पदार्थ का वस्तुधर्म वा स्वभाव यही है। जैसे निर्मल दर्पण मे उसके दायरे मे आये हुए पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही आत्मा के निर्मल ज्ञान मे उसके असीम दायरे मे आये हुए असीम पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वस्तुधर्मानुसार। आत्मा का दायरा जितना विशाल और निर्मल, प्रतिबिम्बित्व स्वभावतः उतना ही विशाल और निर्मल।

पंडितजी लिखते हैं (पृष्ठ ५५६-६० मे) कि "हमारे यहा भारत मे एक यह भी प्रणाली रही है कि प्रबल से प्रबल चिन्तक और तार्किक भी पुरानी मान्यताओं का समर्थन करते रहे और नया सत्य प्रकट करने मे कभी-कभी हिचकाए भी। यदि

हरिभद्र ने वह सत्य योगदृष्टि समुच्चय मे जाहिर किया न होता तो उपाध्याय यशोविजयजी कितने ही बहुश्रुत तार्किक विद्वान् क्यो न हो पर शायद ही सर्वज्ञत्व के उस मौलिक भाव का समर्थन करते। इसलिये सभी गुणवान् सर्वज्ञ है—इस उदार और निर्व्याज असाम्प्रदायिक कथन का श्रेय जैन परम्परा मे आचार्य हरिभद्र के सिवाय दूसरे किसी के नामपर नही जाता। हरिभद्र की योगदृष्टिगामिनी वह उक्ति भी मात्र उस ग्रंथ मे सुषुप्त रूप से निहित है। उसकी ओर जैन परम्परा के विद्वान् या चिन्तक न तो ध्यान देते है और न सब लोगो के सामने उसका भाव ही प्रकाशित करते है। वे जानते हुए भी इस डर से अनजान बन जाते है कि भगवान् महावीर का स्थान फिर इतना ऊँचा न रहेगा, वे साधारण अन्य योगी जैसे ही हो जायँगे। इस डर और सत्य की ओर आँख मूँदने के कारण सर्वज्ञत्व की चालू मान्यता मे कितनी बेशुमार असंगतियाँ पैदा हुई है और नया विचारक जगत किस तरह सर्वज्ञत्व के चालू अर्थ से सकारण ऊब गया है, इस बात पर पंडित या त्यागी विद्वान् विचार ही नहीं करते। वे केवल उन्हीं सर्वज्ञत्व समर्थक दलीलो का निर्जीव और निःसार पुनरावर्तन करते रहते है, जिनका विचारजगत् मे अब कोई विशेष मूल्य नहीं रहा है।"

किसी समय भी भारत मे यह प्रणाली नहीं रही है कि सत्य को प्रकट करने में महापुरुष हिचकिचायें। जिसको पंडित जी सत्य कहते है वह सर्वथा असत्य एवं धोखा है। इसीलिये

ऐसे आत्म-घातक असत्य को प्रकट करने मे प्रवल सुतार्किक और चिन्तक महापुरुष केवल हिचकिचाये ही नहीं अपितु इससे बिलकुल दूर रहे। वे आत्म-रस का अपूर्व स्वाद ले चुके थे इसलिये जानते थे कि आत्मा की शक्ति एवं निर्मलता अनन्त, अकल्प्य, अनुपम और अपरिमेय है। यही रहस्य है कि उन्होंने इसीका जी-जान एवं एक स्वर से समर्थन किया। 'वे हिचकिचाये' आदि शब्दों का प्रयोग स्व-और पर-प्रवंचन की पराकाष्ठा है।

'यदि हरिभद्र ने वह सत्य योगदृष्टिसमुच्चय मे जाहिर किया न होता'—आदि कथन के विषय मे श्री हरिभद्र-प्रसग एवं श्री यशोविजय-प्रसंग मे वतलाया ही गया है कि दोनों ही महात्माओं ने 'निरुपचरित', 'मुख्य', 'ऋषभादिलक्षणे सति प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य' आदि अनेक शब्दों, वाक्यों एवं स्पष्ट कारिकाओं द्वारा पूर्णतया प्रकट एवं प्रकाशित कर दिया है कि त्रैकालिक समग्र भाव को विषय करनेवाला प्रत्यक्ष, अतीन्द्रिय ज्ञान ही सर्वज्ञत्व है, दूसरा कभी नहीं। और ऋषभादि परमात्मा जैसे वीतराग, समग्र भाव-ज्ञाता, निरुपचरित वा मुख्य सर्वज्ञ को ही अपना लक्ष्य मान करके, सर्व मोक्षवादी दर्शनकार आराधना करते है। इसलिये राजा के भिन्न-भिन्न अनेक सेवक जैसे सेवकत्व के नाते समान है, वसे ही वे सर्व निरुपचरित या पूर्ण सर्वज्ञ के आराधक होने के नाते समान है।

'हरिभद्र की योगदृष्टिगामिनी यह उक्ति सुपुप्त रूप से निहित है' आदि कथन सर्वथा निराधार है। श्री हरिभद्रसूरि ने जो

भी 'योग-दृष्टिसमुच्चय' मे वर्णन किया है, वह पूर्णतया जिन-वाणी अनुसार है, अत. उसे मानने वा उसके भाव को प्रकाशित करने मे किसी भी जैन-तत्वज्ञ को बाधा नहीं है और वे किसी हालत मे भी जानते हुए इस डर से अनजान नही बन सकते कि "भगवान महावीर का स्थान फिर उतना ऊँचा न रहेगा, वे साधारण अन्य योगी जैसे ही हो जायंगे"। त्रैकालिक समग्र भाव ज्ञाता ही सर्वज्ञ होता है और 'महावीर' उनमे से एक है यह श्री हरिभद्र सूरि को सर्वथा मंजूर है (जैसा कि उनके उपर्युक्त कारिकाओ एवं अन्य सभी ग्रंथों द्वारा सिद्ध है) और समस्त जैन सम्प्रदाय को भी। अतः न तो त्रैकालिक समग्र भाव ज्ञाता वा निरुपचरित सर्वज्ञ महावीर अपने उस भाव से कभी इधर-उधर होंगे और न उसे कोई दूसरा योगी भी छीन सकता है। प्रत्युत् दूसरे योगी भी अपनी सत्क्रिया के सद्-फल निरुपचरित सर्वज्ञत्व एवं मोक्ष के अधिकारी बनेगे ही। इसमे न तो महावीर का एकाधिकार है और न किसी अन्य का। यह तो वस्तु-धर्म है, जिसका अधिकारी प्राणी मात्र है। सत्य के प्रश्न में न किसी को जरा भी डर है और न आँख मूँदने की ही जरूरत है। सर्वज्ञत्व तो जैसा है, वैसा ही है और सदा रहेगा भी।

'बेशुमार असंगतियाँ'—जिनका जिक्र पंडितजी करते है उसके मूल मे ज्यादातर हमलोगों की तात्विक अज्ञानता है और कुछ अंश मे बाह्य कारण भी। जैसे पुराकाल मे जिनवाणी

लिखी ही नहीं जाती थी। परमात्मा महावीर के करीव १०००-वर्ष वाद 'स्मृतिह्रास' का दुष्प्रभाव देखकर जो कुछ याद था उसे लिखा गया। दृष्टिवादादि—जिन-वाणी का बहुत अधिक भाग विच्छिन्न है ही। और जो कुछ वचा उस पर भी विविध प्रकार के अनेकानेक घात-प्रतिघात समय-समय पर आए। ऐसी स्थिति मे जव असंगतियाँ, हमारी तत्व-ग्राही वुद्धि की न्यूनता एवं कुछ अन्य अनिवार्य कारणो के फलस्वरूप है, तव उन्हे देखकर कैसे कोई तत्वज्ञ घवड़ा सकता है? लोगों को घवड़ाहट में डालने का एवं सत्यानभिज्ञ तथा तत्व-वंचित रखने का प्रवल हथियार, ये तथाकथित असंगतिया जरूर वनायी जा सकती है, जैसा कि पंडित जी आदि द्वारा प्रत्यक्षतः किया ही जा रहा है। उससे खूव सचेत होने की आवश्यकता है। तात्विक विचार-जगत तो इन (तथाकथित असंगतियों) से कदाचित् ऊव नहीं सकता और अतात्विक वा भौतिक-दृष्टि विचारजगत सकारण और निष्कारण ऊवे विना रह नहीं सकता। कारण स्पष्ट है कि वे अनात्मीय-भाव से प्रभावित हैं, अत. उनका इससे वंचित रहना स्वाभाविक है। महात्माओं ने यही कहा है—

चरम नयण करी मारग जोवतारे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइयेरे, नयण ते दिव्य विचार॥

सर्वज्ञत्व आत्मा के ज्ञान-विशिष्टत्व की पराकाष्टा है, जो प्राप्त होने पर सर्वदा एक-सा रहता है। इसमे चालू और अचालू का प्रश्न ही नहीं उठता। आज से कुछ वर्ष पहले Rocket का

आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिये ऐसी चीजों को हमलोग असम्भव मानते थे और अब सम्भव मानते है। क्या इसका यह मतलब हुआ कि उस समय उस वस्तु ( Rocket ) का अभाव था ? वस्तु मौजूद थी किन्तु हमलोगो को उसका ज्ञान नहीं था। त्रुटि हमारी है न कि आत्मा की शक्ति वा ज्ञान की। इसी तरह त्रैकालिक सर्वज्ञत्व तो आत्म-धर्म है जो सदा सम्भव था और रहेगा भी। महावीर के बताये हुए मार्ग का कोई माई का लाल वफादारी एवं यथावत-रीति से अनुचरण करे और फिर उसके हृदय मे त्रैकालिक सर्वज्ञत्व वा आत्मा की अपरिमेय शक्ति एवं विशिष्टता की ज्योति नहीं जगे तो बताये। किन्तु मशगूल रहेंगे प्रतिक्षण भौतिक चकाचौंध मे और थाह लेने जायेंगे दिव्यचक्षु के आश्रय बिना अनन्त गाम्भीर्य-गर्भित महावीर-तत्व का, सर्वज्ञत्व का, तथा उसकी अनन्त विशिष्टता का, यह भी कभी सम्भव है ! निस्सन्देह असंगतियो के नाम से दुनिया को आत्म-प्रवंचित बनाने की यह बड़ी अटपटी चाल है।

सर्वज्ञत्व-समर्थक दलीलों मे निर्जीव और निस्सार पुनरावर्तन की गंध को भी स्थान नहीं है, और तत्वज्ञ विचारकजगत में इसका बड़े से बड़ा मूल्य है और रहेगा भी। तत्वज्ञानभिज्ञ भौतिक विषयों के प्रकाड विद्वानो एवं तार्किकों द्वारा इसका मूल्य कभी अंकित हुआ नहीं और होगा भी नहीं। ऐसे तात्विक प्रसंगों मे शुष्क तार्किको का हस्तक्षेप अपनी शक्ति का अपव्यय के सिवा कोई अर्थ हा नहीं रखता। पाश्चात्य महात्माओ का भी

यही अनुभव है—The literalist knows not God, but he alone who bears God in himself. अर्थ—भाषाज्ञानी ईश्वर को नहीं जानता, किन्तु एक वही जो ईश्वर को हृदय मे धारण करता है। 'तर्कवादी' लाख सिर पटक लें, तो भी उनकी समझ मे इसे आना नहीं। महापुरुषों ने जगह-जगह इसी भाव की पुष्टि की है। पंडितजी जिनके सम्बन्ध मे लिखते है कि "इस उदार और निर्व्याज साम्प्रदायिक कथन का श्रेय जैन-परम्परा मे आचार्य हरिभद्र के सिवा दूसरे किसी के नाम पर नहीं जाता", वही ऋषिपुगव हरिभद्रसूरि और उसी 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथ के अन्त मे क्या कहते है, देखिये—

नैतद्विदस्त्वयोग्येभ्यो, ददत्येनं तथापि तु।
हरिभद्र इदं प्राह नैतेभ्यो देय आदरात् ॥२२४॥
अवज्ञेह कृताल्पापि, यदनर्थाय जायते।
अतस्तत्परिहारार्थं, न पुनर्भावदोषतः ॥२२५॥

अर्थ—मोक्ष सर्वज्ञत्वादि महान् तत्वों के ज्ञाता आचार्य इस 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथ को कभी अयोग्य को देते नहीं हैं, तथापि हरिभद्र विशेषतया सतर्क करते है कि इसे अयोग्यों को कदापि देना उचित नहीं है ॥२२४॥

महाविषयत्वेन—अत्यन्त गंभीर विषय होने के कारण इसकी ज़रा भी अवज्ञा अनर्थमूल है। इसके परिहार ( निवारण ) के लिए न कि किसी क्षुद्र आशय से ॥२२५॥

महापुरुषों की दृष्टि कितनी दीर्घदर्शी होती है, इसका ज्वलन्त उदाहरण पंडितजी का 'सर्वज्ञत्व' प्रसंग सामने है। उन्होंने ( पंडितजी ने ) स्वयं उस तत्व का कितना घोर दयनीय दुरुपयोग किया है और अन्य कितनों को भी अपना साथी बनाया हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या ? तत्व 'तत्व' ही दीखेगा यदि ताकत हो तद्योग्य गम्भीरत्व मे जाने की। एक, दो नहीं; किन्तु संख्यातीत निर्मल एवं पवित्र आत्माओ की एक ही ध्वनि है—"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ माण्डुक्योपनिषद—६॥ हीरा 'हीरा' ही है यदि परख हो तो, नहीं तो कांच का टुकड़ा तो है ही।

पंडितजी ने कई जगह 'नयी सूझ' का जिक्र किया है। समझ में नहीं आता कि क्या कोई 'नयी सूझ' के नाम मे रात को दिन और दिन को भी रात करने की कोशिश करता है ? तब जगत मे सत्य का अंश भी टिक नहीं सकता। हमारे देश के अमुक राजनीतिक नेता की अंग्रेजों से दोस्ती है, इसलिए वे देशद्रोही हैं, ऐसी नयी सूझ जैसी भी कोई निकम्मी चीज हो सकती है। कुंदकुंदाचार्य और हरिभद्रसूरि ने एक ही रस और एक ही स्वर से, जिनको पंडितजी ने अपना मन्तव्य सिद्ध करने के लिए चरित्रनायक चुना है, उन्हीं ग्रन्थो और उन्हीं प्रसंगों मे, अन्यत्र की तो बात ही छोड दीजिये, इसी निरुपचरित वा त्रैकालिक सर्वज्ञत्व का ही गीत गाया है। फिर भी मनुष्य 'नयी सूझ' के नाम में क्या नहीं कर दिखाता!

जिनवाणी अनुसार ज्ञान के मुख्य भेद पाच है—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यंव और केवलज्ञान। प्रथम चार ज्ञान क्षायोपशमिक एवं अंतिम केवलज्ञान क्षायिक है। क्षायिक का अर्थ यह है कि समस्त कर्मावरणों के क्षय से उत्पन्न निर्मलातिनिर्मल ज्ञान। प्रथम चार ज्ञान क्रमानुसार एक दूसरे से निर्मल और विशिष्ट होते हुए भी सीमित हैं और अन्तिम ज्ञान इन सब से परे असीमित व अनन्त है, जिसके विषय ब्रह्माड के समस्त द्रव्यों के अखिल भाव वा धर्म हैं। ऊपर के कथनानुसार पण्डितजी ने जिन दो महापुरुषों के नाम से सर्वथा असत्य एवं निराधार भ्रान्ति का प्रचार किया है, उन दोनों ही पवित्रात्माओं ने और उन्हीं (पंडितजी निर्दिष्ट) ग्रन्थों में ज्ञान के उपर्युक्त पाच भेदों को और उनमे से केवलज्ञान विश्व के अखिल भावों का प्रकाशक है, इसी को स्पष्ट किया है—"आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं। सो ऐसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि॥" समयसार—२०४॥ अर्थ—मति, श्रुत अवधि, मनपर्यंव और केवलज्ञान ये सभी एक पद अर्थात् आत्मा ही है और यही परमार्थ है जिसको प्राप्त कर मोक्ष का लाभ होता है।—"सामर्थ्ययोगोऽवाच्योस्ति. सर्वज्ञत्वादि साधनम्" ॥ योगदृष्टिसमुच्चय गाथा-८ का अद्धांश॥ अर्थ "सामर्थ्य योग अवाच्य है जो सर्वज्ञत्व एवं मोक्ष का साधनभूत है।" सर्वज्ञत्व मोक्ष का अविनाभावी सम्बन्धी है। जिसने इसको प्राप्त कर लिया है वही मोक्ष का अधिकारी है। सामर्थ्य योग के ...

आत्मा पहले सर्वज्ञत्व को प्राप्त करती है और बाद में नियमतः मोक्ष को। इसी श्लोक के स्वोपज्ञभाष्य में स्वयं श्री हरिभद्रसूरि लिखते हैं कि "क्षायोपशमिकत्वादशेषद्रव्यपर्यायाविषयत्वान्न केवलमिति" भावार्थ यह कि सामर्थ्ययोग प्रातिभज्ञान-संगत है जो क्षायोपशमिक होने के कारण अशेष या अनन्त द्रव्य एवं पर्यायों को विषय करनेवाला नहीं होने से केवलज्ञान नहीं है। सारांश यह कि त्रैकालिक समग्रभाव विषयक केवलज्ञान होता है। इतने स्पष्ट वाक्यों की मौजूदगी में भी, क्या कोई व्यक्ति जिसके हृदय मे जरा भी सत्य को स्थान है, कह सकता है कि उन आचार्यों को जैनाभिप्रेत सर्वज्ञत्व खटकता रहा और वह द्रव्य-पर्याय दृष्टि जितना-सा है? सत्य की हत्या का ऐसा नमूना शायद ही कहीं देखने को प्राप्त हो!

पंडितजी लिखते है कि "त्रैकालिक सर्वज्ञत्व को मानना हो तो श्रद्धापुष्टि व चरित्रशुद्धि के ध्येय से उसको मानने में कोई नुक-सान नहीं।"—अध्यात्म-मार्गी कभी अंधेरे में नहीं टटोलता है। उसके पास विद्या—सम्यग्दर्शन वा आत्म-प्राप्ति-जन्य ज्योति ( self-illumination ) रहती है। वह जानता है कि सच्चिदानन्दमय आत्मा अद्भुत विशिष्टताओं से परिपूर्ण है, उसका प्रकाश अपरिमेय, अनन्त है। क्या निर्जीव श्रद्धापुष्टि और चरित्रशुद्धि की भी कोई कीमत है? विद्यायुक्त—सम्यग्दृष्टि वा आत्म-ज्ञान सहित पुरुष, भवन में दीपक की तरह सदा आलोकित रहता है।

यही ( विद्या ) उसका संचालक-दिक्-यंत्र ( compass ) है जो उसे इधर उधर भटकने से रोकता है। यही मूल तत्व था जिसके कारण सभी प्राचीन आचार्य 'आत्मा' की त्रैकालिक सर्व-ज्ञान-शक्ति का एवं अन्य अलौकिक विशिष्टताओं का एक स्वर से पूर्ण स्वीकार तथा समर्थन करते गये। यही कारण था कि तत-आलोकित ( सम्यग्दर्शन-ज्योतियुक्त ) विचारक वर्ग कभी उससे ऊबा नहीं और उसके अभाव में उसका प्रतिपक्षी वर्ग सदा ही ऊबता रहा और रहेगा भी, वस्तु स्थिति ही ऐसी है।

पंडितजी लिखते है कि "जब धर्मास्तिकायादि प्रश्न तर्क के द्वारा समर्थन के लिए उपस्थित हुए तब उन्होंने कह दिया कि ऐसे अतीन्द्रिय प्रश्न हेतुवाद से सिद्ध हो नहीं सकते।"—माना कि कह दिया, किन्तु देखना यह है कि आया उन्होंने ऐसा कह दिया बला टालने के लिए वा वस्तुस्थिति यथार्थ में ही ऐसी है? जब सभी अध्यात्मवादी एक मत है कि अतीन्द्रिय विषयों मे तर्क अप्रतिष्ठित है, यहां तक कि पाश्चात्य दार्शनिक श्री केन्ट ( जिसका उल्लेख पंडितजी ने किया है ) ने भी "देश-काल से पर ऐसे तत्व को बुद्धि या विज्ञान की सीमा से पर" माना है, तब एक बालक भी समझ सकता है कि इसमे कोई महान् रहस्य होगा। अध्यात्म-मार्गानुयायी आत्मज्योति निष्पन्न सभी पवित्रात्मा जब एक ही राग अलापते हैं कि सर्वतत्व, मोक्षादि तत्व वा आत्मादि पदार्थों के धर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं और वे बुद्धि व तर्क के विषय नहीं है, तब इसीसे ही निर्द्वन्द्व-

तया सिद्ध एवं सुनिश्चित हो जाता है कि ब्रह्माण्ड के ऐसे भाव अहेतुवाद गम्य ही है। आत्मोपलब्धि-जन्य 'ज्योति' धोखे से परे की चीज है और तर्क मे धोखे को जगह है, क्या कोई भी न्याय-परायण सुविज्ञ उससे इनकार कर सकता है?

धर्मास्तिकाय तो वहुत वडी चीज है, किसी छोटी चीज को ही ले लीजिये। कोई पूछे कि तुम सुख-दु ख का अनुभव करते हो तो क्यो? और एक मृतक शरीर मे इनका अभाव क्यों? कितना भी वाद-विवाद किया जाये—आखिरी सही जवाव यही होगा कि ऐसा ही विलक्षण स्वभावमय एक तत्व है जो इसका नियामक है। किसी ने उसे आत्मा कह दी, किसी ने परब्रह्म कह दिया और किसी ने ब्रह्म की लीला कह दी, यथा-प्रसंग और पात्रानुसार। इन विभिन्नताओ की पीठ मे कितनी वडी अभिन्नता एवं एकरूपता है, क्या यह स्पष्टतया पता नहीं चलता? क्या इन विभिन्नताओ को दिखा कर तत्व का अभाव सिद्ध करना भीषण भ्रान्तिजाल नहीं है? हेतुवाद और अहेतुवाद दोनो ही प्रसंगानुसार न्यायसंगत है और तत्व को गले उतारने या हृदयंगत करने मे आवश्यक एवं सहायक है। इनको पंडितजी किस तरह से 'सुविधावाद' का वाना पहना कर हँसी उड़ा रहे है कि 'जव कोई रास्ता नहीं सूझा तो अहेतुवाद-गम्य कह दिया और जहा सुविधा मिली वहा तर्क द्वारा मंडन कर दिया'। पाठकगण पंडितजी की 'यथार्थ स्थिति का निरूपण' कैसा अजव भ्रान्ति-जाल है, अच्छी तरह से देख लें।

# सम्प्रदाय या तत्वज्ञान की होड़?

पंडितजी (पृष्ट ५५३-५५४ मे) लिखते है कि "भारत मे हर एक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप से सर्वज्ञत्व के ऊपर अधिक भार देता आ रहा है। हम ऋग्वेद आदि वेदों के पुराने भागों में देखते है कि सूर्य, वरुण, इन्द्र आदि किसी देव की स्तुति मे सीधे तौर से या गर्भित रूप से सर्वज्ञत्व का भाव सूचित करने वाले सर्वचेतस सहस्त्रचक्षु आदि विशेषण प्रयुक्त हैं। उपनिषदों मे खासकर पुराने उपनिषदों मे भी सर्वज्ञत्व के सूचक और प्रतिपादक विशेषण एवं वर्णन का विकास देखा जाता है। यह वस्तु इतना साबित करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय मानस अपने सम्मान्य देव या पूज्य व्यक्ति मे सर्वज्ञत्व का भाव आरोपित बिना किये संतुष्ट होता न था। इसीसे हर एक सम्प्रदाय अपने पुरस्कर्त्ता या मूल प्रवर्तक माने जाने वाले व्यक्ति को सर्वज्ञ मानता था। साम्प्रदायिक वाडो के बाजार मे सर्वज्ञत्व के द्वारा अपने प्रधान पुरुष का मूल्य आंकने और अंकवाने की इतनी अधिक होड लगी थी कि कोई पुरुष जिसे उसके अनुयायी सर्वज्ञ कहते और मानते थे वह खुद अपने को इस माने मे सर्वज्ञ न होने की बात कहे तो अनुयायियों की तुष्टि होती न थी। ऐसी परिस्थिति मे हर एक प्रवर्तक या तीर्थंकर

का उस उस सम्प्रदाय के द्वारा सर्वज्ञरूप से माना जाना और उस रूप मे उसकी प्रतिष्ठा निर्माण करना यह अनिवार्य बन जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।"

एक असत्य का मंडन करने के लिये व्यक्ति को अन्य अनेक असत्य मंडन करने पडते है। वेद और उपनिषदों ने एक ही गीत गाया है कि यह 'आत्मा' ही सर्वस्व है। सर्वज्ञत्वादि महत्तम विशिष्टताएं 'आत्मा' ही मे सन्निहित है। सूर्य, वरुण इन्द्र भी यही 'आत्मा' है। इनकी आंशिक व सामस्तिक सर्व-चेतस, सहस्रचक्षु आदि सर्व विशेषताएं आत्मा ही की निज कृतिया है। आत्मा ही इनकी जननी एवं केन्द्र-भूमि है। समस्त वेद और उपनिषदों की एक ही यह अन्तर्ध्वनि है :—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥ ५॥
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूषि सामानि यज्ञ' क्षत्रं ब्रह्मच॥ ६॥
इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषा पतिः॥ ७॥

प्रश्नोपनिषद्—द्वितीय

भावार्थ यह कि अग्नि, सूर्य, वर्षा, इन्द्र, पृथिवी, वायु, भूत, देव, साकार, निराकार, अमरत्व सभी यह 'आत्मा' है। अर्थात् ये सब आत्मा ही के क्रिया-कलाप है अथवा आत्मा ही इन रूपों को धारण करती है। जैसे पहिये के आरे उसकी नाभि

में सभी एक जगह मिल जाते हैं, वैसे ही इस प्राण वा आत्मा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यज्ञ, ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व सभी प्रतिष्ठित हैं। हे आत्मा! तुम्हीं तेजोमय इन्द्र, रक्षाकर्त्ता रुद्र, अन्तरिक्ष मे भ्रमण करने वाले नक्षत्रादि तथा ज्योतिःपुञ्ज सूर्य हो।

पूर्णत्व वा त्रैकालिक-सर्वज्ञत्व जिसको चुटकियों मे उड़ाने के लिये पंडितजी ने कलम उठाई है, उसकी पुष्टि मे आप लिखते हैं कि 'भारत में हर एक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप से सर्वज्ञत्व के ऊपर अधिक भार देता आ रहा है......'।—भारत में सभी प्राचीन सम्प्रदाय राम और कृष्ण को मानते आये हैं, यह इसलिये कि राम और कृष्ण जैसी महान् आत्माओं ने सत्यतः ही यहा अवतार लिया था। वे काल्पनिक उपन्यासीय पात्र नहीं थे। इसी तरह पूर्ण सर्वज्ञत्व प्राचीन काल के लोगों के लिये प्रत्यक्ष सत्य एवं वास्तविक पदार्थ था, जिसका साक्षात् परिचय उन्हें सर्वदा मिलता था एवं वे कार्यतः इसकी हरदम आजमाइश करते थे। इसीलिये उन्होंने इसके ऊपर अधिक से अधिक भार दिया। वे साक्षात् सत्य को इन्कार करते भी तो क्योंकर?

महात्मा गांधी के साक्षात् सम्पर्क मे आये हुये जौहरी व्यक्ति उनके सद्गुणों की कीर्ति किये बिना रहें भी तो कैसे? महात्माजी के विरोधियों का भी अभाव नहीं, जिन्होंने उन्हें नाना तरह से अयोग्य व खोटा बतलाने की कोशिश की है। दोनो ही प्रकार की साहित्यिक रचनायें—महात्माजी के

पक्ष और विपक्ष की आनेवाली पीढ़ी के हाथ में जायेगी। ऐसे साक्षात-दर्शियों के अभाव में सत्य का निर्णायक कौन होगा? यथार्थ मे तो महात्माजी के गुण-वर्णनवाला साहित्य जिसके अनुयायी इने-गिने होंगे, सत्याधारित है। परन्तु उपहासकारियो की और सत्य से ओझल रहनेवालो की संख्या तो हमेशा अधिक होती ही है। कारण स्पष्ट है कि सत्य को समझने वाले और आचरण करनेवाले दुनिया मे विरले ही होते हैं। गाँधीजी को भी कुछ अर्से बाद लोग सम्प्रदाय की होड़ का नतीजा मात्र मानने लग जाँयगे। उनके अहिंसा, सत्यादि सिद्धान्तों की महान् विशेषत्व और गम्भीरत्व जो सत्याधारित हैं, हवाई वा ख्वाबी अरमान का रूप धारण करने को बाध्य होगा। कितने भी प्रमाणों वा युक्तियों से उसे सत्य साबित किया जाये, युगधर्म के वेग को दबाने की ताकत है किस सपूत मे? यही हाल है महावीर-तत्व का, अन्य महर्षियों द्वारा भी सम्मत एवं समादृत सर्वज्ञ-तत्व का। उसकी आज खुले-आम नीलाम बोली जा रही है, है कोई माँ का बेटा—जो अंगुली भी उठाये, बावजूद इसके कि वह (सर्वज्ञत्व) आज भी विद्यायुक्त (सम्यग्दृष्टि) लोगो के लिये निश्चिततया सम्भव, सङ्गत एवं सत्य पदार्थ है। विद्या वा आत्मदर्शन (सम्यग्दर्शन) का प्रकाश और प्रभाव यदि एक सच्चा और वास्तविक पदार्थ है और सर्व धोखों से परे की चीज है, तो उसका उत्तरगामी (subsequent) परिणाम, चाहे एक नहीं अनेक जन्मान्तरों मे भी सिद्ध हो, 'सर्वज्ञत्व' या 'पूर्णत्व' सुनिश्चित एवं वस्तुधर्मतः ध्रुव-प्राप्य है।

पंडितजी की स्व-पर-प्रवंचनात्मक, तथ्यहीन एवं भ्रान्ति-मूलक शब्द-रचनाएं—'भारतीय मानस अपने सम्मान्य देव या व्यक्ति में सर्वज्ञत्व का भाव आरोपित बिना किये सन्तुष्ट होता न था', 'अपने पुरस्कर्ता या मूल प्रवर्त्तक माने जाने-वाले व्यक्ति को सर्वज्ञ मानता था', 'साम्प्रदायिक बाड़ों के बाजार में सर्वज्ञत्व के द्वारा अपने प्रधान पुरुषों का मूल्य आंकने और अंकवाने की इतनी अधिक होड़ लगी थी' तथा 'कोई सर्वज्ञ माना जानेवाला पुरुष अपने को उस माने में सर्वज्ञ न होने की बात कहे तो अनुयायियों को तृप्ति होती न थी' आदि इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि वे येनकेन प्रकारेण अपना अभिप्रेत 'असर्वज्ञत्व' या यह भी कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी कि सर्वथा असत्याधारित, धोखे से भरा 'युग धर्म' का नारा—'जड़ और जड़वाद जिन्दाबाद' (Long live matter and materialism) अथवा 'खाओ-पीओ-मौज करो' (Eat, drink & be merry) ही सर्वस्व और मानव जीवन का अन्तिम ध्येय, साध्य व लक्ष्य है, इसे निरूपण एवं प्रचार करने के लिये हाथ धोकर उतारू हुए हैं, यह कहने की भी जरूरत नहीं। 'सर्वज्ञत्व' तो ऐसा सत्य है जैसा दो और दो चार व सूर्य और चन्द्र का अस्तित्व तथा जन्म और मृत्यु। और यह सभी निष्पक्ष और पवित्र आत्मज्ञानियों द्वारा पूर्णतया स्वसंवेदित एवं समर्थित है। [illegible]-शास्त्रों द्वारा निर्णीत पदार्थ के धोखे का प्रश्न ही नहीं है।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
(मुण्डकोपनिषद् ३-२-६)

उपर्युक्त वाक्य सांप्रदायिक होड़ के परिणाम नहीं, अपितु आत्माकी असीम निर्मलता से निष्पन्न स्वाभाविक गुण वा धर्म हैं। जिन्हें सत्य को ओझल करना है, वे चाहे जैसे शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं, अपना मतलब बनाने के लिये। पर, सत्य को परखने के और भी जरिये हैं—आत्मा जैसा सच्चिदानन्द घन पदार्थ जब ध्रुव निश्चित है, तब उसके सत्प्रयास के उपर्युक्त फल पूर्ण सत्याधारित एवं सुसंगत हैं। 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग.', 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्', 'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्' 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' आदि वाक्य पूर्ण अनुभवसिद्ध हैं, यदि कोई सचाई से उन्हें कार्यान्वित करे तो। अन्यथा व्यर्थ और ढोंग तथा सांप्रदायिक बाड़ोंका बाजारू नीलाम जो भी चित्रित कर दिया जाये थोड़ा ही है। बधिर को कितना भी मधुर, पत्थर में जान डालनेवाला गीत भी क्यों न सुनाया जाय, उसके लिये फूटी कौड़ी के मोल का भी नहीं है।

सर्वज्ञ विचार की चार भूमिकाएं, जिनका जिक्र पंडितजी ने अपने लेख के अन्त में किया है वह अपना अभिप्रेत 'असर्वज्ञत्व' सिद्ध करने के लिये काल्पनिक ही नहीं, अपितु जैसी-तैसी युक्तियों से निर्मित एक बाहर से खूबसूरत दीखने वाला महल है। उसमें असत्य एवं तथ्यशून्य पिष्ट-पेषण के सिवा कुछ है ही नहीं, यदि गम्भीरता से देखा जाय तो।

यह हुआ पंडितजी की युक्तियोंका यत्किञ्चित् उत्तर।

---

# प्रास्ताविक कुछ

## 'ज्ञान आत्मा का गुण है, उसकी पराकाष्ठा सर्वज्ञत्व है'

'अणादिणिधणं णाणं सव्यण्णूहिं पवेइयं'

तमेव सच्चं जं जिणेहिं पवेइयं'

समस्त दिव्य दृष्टि-परायण पवित्र एवं महान् आत्माओं ने यह सम्यक् प्रकार से अन्तर्भावतः अनुभव किया है कि 'आत्मा' चिन्मय शक्तिपुञ्ज एक ऐसे अनुपम 'विशिष्टत्व' से परिपूर्ण है, जो अगम्य, अलक्ष्य, अचिन्त्य, अकल्प्य, अपूर्व, अलौकिक, अनुपम, असीम एवं अपरिमेय है। विश्व में ऐसे शब्द ही नहीं, जिनके द्वारा इसके महत्व, श्रेष्ठत्व को व्यक्त किया जा सके। चाहे इसे परमात्व, पूर्णत्व, त्रैकालिक सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापित्व या सर्वगामित्व किसी भी नाम से पुकारा जाय, तथा विश्व-संसार ऐसे जड़-चेतनमय द्रव्यों का समूह है जो अत्यन्त सूक्ष्म-भावपूर्ण एवं गम्भीर धर्मयुक्त ही नहीं वरन अतीन्द्रिय भी है, एवं द्रव्यस्थित ऐसे सूक्ष्मभाव और गंभीर धर्म मात्र पूर्ण या सर्वज्ञगम्य ही हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जावे तो यह कि त्रिकालदर्शी या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष-द्रष्टा के अतिरिक्त ऐसे असमान सूक्ष्मत्व एवं गहनत्व ( immeasurable

subtleness & depth ) से पूर्ण पदार्थ-धर्म अन्य किसी के द्वारा जाने ही नहीं जा सकते। साराश यह कि यथार्थ मे तत्व वा सत्य वही है जो पूर्ण वा सर्वज्ञ प्रवेदित है। पाश्चात्य महात्मा भी यही कहते है :—"Reality can not be proved from concepts, it can only be felt"—'सत्य वेद्य है, सिद्धय नहीं।' चाहे उसकी अभिव्यक्ति वा प्रकटीकरण कितना भी सीमित क्यो न हो। मन के भावो को चित्र मे अंकित करना जितना कठिन है, उसे वाणी द्वारा सही-सही रूप में प्रकट करना भी उतना ही। 'वेद' भी यथार्थ में वही है, जो सर्वज्ञ-वेदित है, भले समय के फेर से उसका रूप आज कुछ भी हो।

दार्शनिक एवं तार्किक दलीलों में चाहे जितने भी मतभेद हों, सभी मोक्षवादी पवित्र महापुरुषोंने आत्मा के 'सच्चिदानंद' स्वरूप को और इसके सत्प्रयास के फल 'मोक्ष' को निर्विवाद रूप से माना है। कूटस्थ-नित्यादि एक-एक नय या दृष्टिया है। महात्माओंने यथा-प्रसंग एवं यथा-पात्र, इनका उपदेश दिया है—'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' इस तत्वमय सिद्धातानुसार।

आत्मा एक तत्व ही ऐसा है जो सदा (त्रिकाल) सत (जीवत्व) चित् (ज्ञान) आनन्द (सौख्य) से युक्त है। ऐसा मौलिक सच्चिदानन्द-भावमय एक अनुपम, अनन्त, विशिष्टताओं से परिपूर्ण तत्व जब अविद्या मल से मुक्त होकर अपनी निर्मलता की पराकाष्ठा को प्राप्त करता है तब उस निर्मलता में स्वभावतः

ही ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों के समस्त भाव सूक्ष्म से सूक्ष्म भी प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रहते। स्वतः ही ऐसा बनाव बनता है। जैसे निर्मल जल में पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने का धर्म है वैसे ही आत्मा के निर्मलत्व में भी। जल अपने सीमित क्षेत्रस्थित पदार्थों को प्रतिबिम्बित करता है परन्तु आत्मा अपरिमित विशिष्टत्व युक्त होने से अपरिमित व अनन्त पदार्थों को मय उनके अनन्त धर्मों के प्रतिबिम्बित करता है।

आत्मा एक त्रकालिक सच्चिदानन्द-भावमय ऐसा पदार्थ है, जो स्व-संवेदनत. एवं अनुभवतः सिद्ध है। जैन एवं वैदिक सभी महान् आत्माओं ने पद-पद में इसके अनुपम विशिष्टत्व की महिमा गायी है :—"एगो मे सासओ अप्पा नाण दंसण संजुओ, सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा।" "न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥" गीता—२-२०॥, आदि अगणित वाक्यों द्वारा। आत्मा में जैसे सदा सत्-जीवत्व-अस्तित्व की विशिष्टता है वैसे ही ज्ञान की भी और जब वह अपनी निर्मलता की अन्तिम सीमा को प्राप्त करता है तब स्वभावतः ही सर्व पदार्थों के सर्व भावों का उसमें प्रतिबिम्बित होना अपने आप होता है।

सभी जानते हैं कि जब कोई [illegible] [illegible] [illegible] विज्ञान

होता है ? मनुष्य पढता है थोडा, किन्तु उसका ज्ञान उसमें अनेक गुणा अधिक फलित होता है। कुछ ही पुस्तकों का अध्ययन करके हजारों पुस्तकों जितना ज्ञान वह थोड़े ही दिनों मे प्राप्त कर लेता है। अर्थात् बुद्धि की तीव्रता वा सही अर्थ में पूर्व-जन्मार्जित विशेष शक्ति द्वारा बाधक कर्मावरणों को तीव्रता से नष्ट कर, थोड़ा अध्ययन करके भी विशेष ज्ञान-भाजन व विद्वान् बन जाता है। क्या यह सिद्ध नहीं करता कि आत्मा पर आवरण है और वे ज्यों-ज्यों प्रयास द्वारा दूर किये जाते है त्यों-त्यो प्रकाश की मात्रा में वृद्धि होती जाती हैं, यहा तक कि उसकी पराकाष्ठा सर्व पदार्थों के सर्व भावों को प्रकाशित करने में परिणत होती है।

हम लोग देखते है कि मन की कल्पना का क्षेत्र भी कितना अमानतया विस्तृत है। वह एक ही क्षण मे कैसे रंग-विरंगे एवं विशाल चित्र आक लेता है और क्षेत्र एवं काल की महती सीमा को उल्लंघन कर ब्रह्माड के एक छोर से दूसरे छोर का उसी क्षण में ही चक्कर मार लेता है। तब यथार्थतः विचार करने पर क्या यह पता नहीं चलता कि आत्मा जिसका नेत्रादि इन्द्रियों की तरह मन एक सेवक है, उसका स्वामी वह स्वयं इससे कितना अधिक शक्तिशाली होगा ? समस्त कल्पनाजाल एव दुर्बलताओं को विनष्ट करके आत्मा जब पूर्ण वीतरागत्व एवं निर्मलत्व को प्राप्त

करता है तब उसका ज्ञानक्षेत्र यथार्थ में ही असामान्यतया विस्तृत होगा, यह सहज में ही समझ में आ जाता है।

यह भी देखा जाता है कि मनुष्य जैसे-जैसे ज्ञान ( भौतिक व आध्यात्मिक ) के लिये अधिक प्रयत्नशील होता है वैसे-वैसे वह उस दिशा में आगे बढ़ता जाता है। क्या यह सिद्ध नहीं करता कि इस प्रक्रिया को जितनी ही विस्तारित की जायेगी ज्ञान का क्षेत्र भी उतना ही विस्तारित होता जायेगा।

हमें यह सदा महसूस होता है कि हम जितनी भी अधिक शिक्षा प्राप्त करलें वह अधूरी तथा समुद्र में बिन्दु जितनी है, तब क्या यह सिद्ध नहीं करता कि इसकी पूर्ति कहीं और है और उसका स्थान कोई असाधारण ही अद्भुत रहस्य है ?

इसी तरह हमें यह भी महसूस होता है कि हम किसी चीज से बंधे या रोके हुए हैं अर्थात् कोई चीज हमारे ज्ञान में बाधक हो रही है और ज्यों-ज्यों यह बन्धन व रोक ढीली होती जाती है त्यों-त्यों ज्ञान का क्षेत्र बढ़ने लगता है। तब यह आसानी से समझ में आजाता है कि यह बन्धन यदि पूर्णतया हटा दिया जावे तो ज्ञान भी पूर्णत्व में प्राप्त होगा और वह कल्पनातीत, विस्तीर्ण होगा।

देखा जाता है कि किसी गायक ने एक गाना एक स्वर में ऐसे एक धुन में गाया कि जीवन में फिर वैसी तान ही प्राप्त नहीं होगी, और उसके दूसरे गाने भी सुन्दर हों। इसी तरह

कोई साहित्यकार किसी अवसर में एक गद्य या पद्य की रचना इतनी भव्य एवं जानदार कर डालता है कि फिर वैसी सूझ जीवन में दुबारा मिलती ही नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा पर आये हुए कर्म-पटलों का किसी-किसी समय इतना अधिक क्षय होता है कि तद्विषयक निर्मलता विशेष होती है, फलस्वरूप उसकी अभिव्यक्ति ( manifestation ) श्रेष्ठ होती है। जब ये पटल पूर्ण क्षीण हो जायेंगे तब निर्मलता भी स्वाभाविकतया पूर्ण होगी।

जब अनेक मनुष्यों मे अनेक तरह के विचित्र ज्ञान हम देखते है और यह भी देखते है कि एक ही मनुष्य मे उन अनेक मनुष्यों जितना भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान है, तब क्या वह एक ही मनुष्य इसी तरह बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण ज्ञान का अधिकारी नहीं बन सकता ?

इसी तरह हम लोगों का अनुभव है कि किसी समय जब एक लेखक या वक्ता कुछ लिखने या बोलने लगता है तो मानो कोई खजाना ही खोल दिया है, कलम या जिह्वा चलती ही जाती है, न जाने उस समय कैसी-कैसी और कहां-कहाँ की नई-नई बातें याद आने लगती है। यह बतलाता है कि बाधक कर्मों का आवरण जब अधिक नष्ट होता है, तब विचार-शक्ति एवं धारणा-शक्ति अधिक स्फुरित एवं विकसित होती है। साराश यह निकला कि सम्पूर्ण आवरणों के क्षय से आत्मा पूर्णत्व व सर्वज्ञत्व का अधिकारी बनता है।

किसी समय ऐसा भी होता है कि हमलोगों को कुछ याद नहीं रहता, विचार-स्फुरण ही नहीं होता, यहां तक कि रोजमर्रा के नाम भी ऐसे भूल जाते हैं जो बहुत सोचने पर भी याद नहीं आते। तब आत्मा अपनी विशेष शक्ति का प्रयोग करती है—कुछ सोचती-विचारती है। फलस्वरूप साथ-साथ कुछ अंश में बाधक आवरण नष्ट होते हैं और विस्मृत विषय ही नहीं, अपितु और नई-नई बातें भी ताजी हो जाती हैं। मानो भीतर कोई अथाह जल का कुआं है जिस से पानी निकालते ही रहो। क्या यह सिद्ध नहीं करता कि ज्ञान का अखूट भण्डार अन्दर ही है और वह कहीं बाहर से नहीं आता तथा ज्यों-ज्यों बाधाओं का पर्दा फाश होता जाता है त्यों-त्यों प्रकाश अमीमतया बढ़ता ही जाता है ? इसकी चरम सीमा ही पूर्णत्व या सर्वज्ञत्व है।

यदि आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं होता जिसका स्वभाव सच्चिदानन्दत्व या ज्ञान-विशिष्टत्व है, तब तो यह कहना ठीक ही होगा कि 'सर्वज्ञत्व' एक काल्पनिक, असंभव एवं असंगत पदार्थ है, किन्तु आत्मा जब एक स्व-संवेदन-स्वभाववाला निश्चित और साक्षात् अनुभूत पदार्थ है और इसमें ज्ञान की न्यूनाधिक मात्रा भी देखने में आती है जो सकारण है, तब उन कारणों के पूर्णतया नष्ट होने पर 'आत्मा' ज्ञान की चरम सीमा को प्राप्त होगी यह स्वाभाविक है।

हम देखते हैं कि जिसमें कोई [illegible] होते [illegible]

उसके प्रति वैर-भाव और जिससे स्नेह होनेवाला है उसके प्रति प्रीति पहले से जागृत होने लगती है। इसीतरह कितनों को अपनी तथा अपने सम्बन्धियों की बीमारी, मृत्यु या दुर्घटना आदि का प्रतिभास पहले से हो जाता है और वह सही निकलता है। क्या यह नहीं बतलाता कि आत्मा एक ऐसा अनोखा आईना (दर्पण) है जो ज्यों-ज्यों निर्मलता प्राप्त करेगा, त्यों-त्यों वस्तुभाव को विशेष निर्मलतया प्रकाशमान करेगा।

दिन की छोटी-मोटी समस्यायें ही नहीं, बल्कि गणित के उलझे हुए हिसाब वगैरह भी जो दिन में खूब माथापच्ची करने पर भी हल नहीं हो पाते, वे रात्रि में स्वप्नावस्था में बिना प्रयास ही हल हो जाते हैं और सुबह उठकर तुरन्त उन्हें मूर्त्त रूप दे दिया जाता है। तब क्या यह साधारण बुद्धि से भी समझ में नहीं आता कि आत्मा एक ऐसी विचित्र चिन्-स्वभावमय शक्ति का पुञ्ज है जो निद्रा में भी निठल्ली नहीं रहती और प्रति क्षण अत्यन्त व्यस्ततया क्रियाशील है। क्या कोई अन्दाज लगा सकता है कि एक ऐसे अकल्पनीय क्षमताशील आत्मा नाम के पदार्थ की पूर्ण विकसित अवस्था में कितनी अपरिमित शक्ति हो सकती है ?

मनोबल के वशीकरण (hypnotism), जादू (mesmerism) आदि अनेक चमत्कार हमलोग रात-दिन देखते हैं। ये सभी आत्मा की अपरिमेय शक्ति की ओर इशारा करते हैं।

वतलाती है कि पशुओं की आत्माएं और हमारी आत्माएं एक है, और हमने भी कभी इन भेपों ( शरीरो ) को धारण किया होगा। अर्थात् हम भी इन अवस्थाओ ( योनियों ) मे गुजर व सफर नहीं कर आये, ऐसी वात तो नहीं है। किन्तु इस रहस्य को समझनेवाले और हृद्गत करनेवाले है कितने ?

विज्ञान की वेधशालाओं और प्रयोगशालाओ के प्रयोगो का विधायक ( कर्ता ) भी मनुष्य या आत्मा ही है। चिन्मय शक्तिपुञ्ज चेतन के निकल जाने पर मृतक देह के पास चाहे जितने भी दूरवीक्षण-यन्त्रादि साधन मौजूद हों, निरर्थक है। साराश यह कि ज्ञान और शक्ति का नियामक आत्मा ही है। वही विलक्षण यन्त्रों का निर्माणक है। वही उनकी सहायता से राकेट, स्पुतनिक आदि का आविष्कारक है। वही चन्द्रलोक में स्टेशन बनाने की चेष्टा कर रही है। वही चिन्-शक्तिपुञ्ज "आत्मा" जब अपनी क्षमता का शुद्ध, यथार्थ एवं उत्कृष्ट उपयोग करती है तब अपनी स्वाभाविक निर्मलता की पराकाष्ठा वा पूर्णत्व—सर्वज्ञत्व को प्राप्त करती है।

आधुनिक मनोविज्ञान की शोध ( Psychic research ) भी यही बतलाती है—"The normal personality is but a fraction of the total personality which is more of the subconscious nature"—साधारण व्यक्तित्व पूर्ण व्यक्तित्व का एक अंश मात्र है, जो अधिकाशतः

अव्यक्त रहता है। अर्थात आत्मा की पूर्ण शक्ति का एक अंश ही साधारण मनुष्य में खिल पाता है एवं उसका अवशिष्ट भाग अविकसित ही रह जाता है। सारांश यह निकला कि 'आत्मा' की पूर्ण ज्ञानशक्ति असमान व अनन्त है, समस्ततः विकसित होने पर। क्योंकि उसमे वृद्धि-ह्रास का क्रम है, अत: उसकी पूर्ण वृद्धि सम्भवपर एवं संगत है। पूर्ण वृद्धि ही पूर्णत्व वा सर्वज्ञत्व है।

इसीतरह निमित्त-शास्त्र पर विचार कीजिये। इसके भी अनेक अङ्ग हैं, जैसे फलित-ज्योतिप ( Astrology ), सामुद्रिक ( हस्तरेखा ), स्वरोदय, प्रश्नगणना, मूक प्रश्नगणनादि। इनमे से प्रत्येक पर गम्भीरतया विचार करने की आवश्यकता है। प्रत्येक में सत्य का रहस्य भरा पडा है। यह दूसरी चीज है कि आज नाना कारणों से न ये विद्याएं पूर्ण है और न इनके वैसे ज्ञाता ही हैं, फिर भी जिस अल्प मात्रा मे ये आज भी वची-खुची हैं, वे इतना प्रमाण देने के लिये यथेष्ट हैं कि वास्तव मे ही इनमे सत्यांश है।

इनमें से किसी को भी ले लीजिये। जैसे किसी शिशु का आज जन्म हुआ। उसके जन्म-समय को लेकर ज्योतिर्गणनानुसार नक्षत्र तथा जन्म-लग्न का निर्णय और उससे फलित यथायोग्य नव ग्रह-सन्निवेशयुक्त एक बारह राशियों के राशि-चक्र द्वारा जन्मकुण्डली का निर्माण, जिसमे जातक के जन्म से मृत्यु तक की समस्त लीलाओं का ( मय पूर्व और आगामी

जन्म के भी ) चिट्ठा मंडा रहता है। सोचिये कि ऐसी रहस्य-मय वस्तु की उत्पत्ति हो भी तो कैसे ?

ब्रह्माण्ड के गर्भ मे ग्रह, नक्षत्र एवं राशि जैसे पदार्थ हैं और उनसे एक ऐसा विज्ञान आविष्कृत किया जा सकता है, जिसके आधार पर किसी और कितने ही दूर के स्थान पर जन्मे हुए प्राणी का भूत, भविष्य और वर्त्तमान जन्मो का सम्पूर्ण इतिहास तैयार कर दिया जा सकता है, क्या उसका निरूपक त्रिकाल के समस्त भावों का ज्ञाता नहीं था ? क्या सर्वज्ञ के सिवा दूसरा कोई भी किसी तरह से ऐसे विज्ञान का निर्माणक सम्भव है ?

इसी तरह स्वरोदय को देखिये। जैसे किसी स्वरोदय-ज्ञाता को कोई प्रश्न करता है कि मेरे अमुक सम्बन्धी की बीमारी कब ठीक होगी ?—उनका उत्तर होगा कि रोगी इतने दिनो मे अच्छा हो जायेगा अथवा उसकी मृत्यु इतने दिनो मे, यहा तक कि फलां तारीख के फलाँ समय मे हो जायगी। स्वरोदय-ज्ञान या इडला, पिङ्गला एवं सुषुम्ना—तीन मुख्य नाडियो एवं इनकी शाखा प्रशाखा-जन्य अनेक नाडियो की भिन्न-भिन्न गतियो के आधार पर, प्रश्न का सही-सही उत्तर दे देना, क्या खिलवाड है ? प्राणी के श्वास-निश्वास मे ऐसी चित्र-विचित्र नाडियों या वायु-गतियों का संचरण होता है, जिसके आधार पर भविष्य के गर्भ मे रही हुई घटनाओं को भी उद्घाटित किया जा सकता है। सोचिये, प्रत्यक्ष व अतीन्द्रिय ज्ञान के

विना विश्व के अनन्त पदार्थों के अनन्तानन्त धर्मों में से जिस किसी ने ऐसे एक वस्तुधर्म को चुनकर निकाला भी तो क्योंकर ? क्या कोई भी विद्वान गहराई से सोचने पर यह कह सकता है कि ऐसे विज्ञान का प्ररूपक त्रिकालदृष्टा नहीं था ?

इसीतरह ज्योतिष का सामुद्रिक, ग्रहगणनादि के सिवा भी अन्य ऐसे अनेक ज्ञान-विज्ञान मौजूद हैं, जिन पर न तो लोग कभी गम्भीरता से सोचते हैं और न इनमें रहे हुए तथ्यों को परखने की भी कोशिश करते हैं, वे इस बात के पूर्ण साक्षी हैं कि इनका मूल-प्रकाशक त्रिकाल-सर्वज्ञ के सिवा दूसरा कोई हो ही नहीं सकता और इनकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय ज्ञान के अतिरिक्त और किसी भी अन्य जरिये—कल्पना, सोच-विचार, ऊहापोह, क्रमिक बुद्धि-विकास या भौतिक यन्त्रों एवं प्रयोगशालाओं आदि से सम्भव ही नहीं है।

---

# महान् आत्माओं की अंतर्ध्वनियां

शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुपममनुत्तरं निरवशेषम् ।
सम्पूर्णमप्रतिहतं संप्राप्तः केवलं ज्ञानम् ॥ २६८ ॥
कृत्स्ने लोकालोके व्यतीतसाम्प्रत भविष्यतः कालान् ।
द्रव्यगुणपर्यायाणां ज्ञाता द्रष्टा च सर्वार्थैः ॥ २६९ ॥

( प्रशमरति प्रकरण )

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥

(द्वितीय मुण्डकोपनिषद् २-७)

साक्षादतीन्द्रियानर्थान्, दृष्ट्वा केवलचक्षुषा ।
अधिकारवशात्कश्चिद्, देशनाया प्रवर्त्तते ॥ ४२५ ॥

( योगबिन्दुः )

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मनः सर्वमेवाविशन्ति ॥

( तृतीय मुण्डकः २-५ )

द्रव्यं पर्यायजातं वा न किञ्चित्केवलज्ञानस्य
विषय भावमतिक्रातमस्ति ॥

( सर्वार्थसिद्धिः )

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

( ईशोपनिषद् )

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ( तत्वार्थसूत्र १-३० )

केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं
सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायम् ॥

( तत्वार्थस्वोपज्ञभाष्य १-३० )

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥

( योगदर्शन ४-३१ )

सर्वव्यापी कहो सर्व जाणनपणे पर परिणमन स्वरूप ।
पररूपे करी तत्वपणु नहीं, स्वसत्ता चिद्रूप ॥
ज्ञेय अनेके हो ज्ञान अनेकता, जलभाजन रवि जेम ।
द्रव्य एकत्वपणे गुण एकता, निजपद रमता हो खेम ॥
अगुरुलघु निज गुणने देखतां, द्रव्य सकल देखत ।
साधारण गुणनी साधर्म्यता, दर्पण जलने दृष्टान्त ॥

( महान् योगी श्री आनन्दघनजी )

ज्ञानादिक गुण सम्पदा रे, तुज अनन्त अपार ॥
सर्व द्रव्य प्रदेश अनन्ता, तेहथी गुण पर्यायजी ।
तास वर्गथी अनन्त गुणु प्रभु, केवलज्ञान कहायजी ॥

( अध्यात्मवेदी श्री देवचन्द्रजी )

पूरण गलन धर्म थी पुद्गल, नाम जिणंद वखाणे ।
केवल विण परजाय अनंती, चार ज्ञान नवि जाणे ॥
परमात्म परब्रह्मनो प्रगट्यो शुद्ध स्वरूप ।
लोकालोक प्रमाण सब, झलके तिनमें आय ॥

( महान् योगी श्री चिदानन्दजी )

अनन्त अनन्त भाव भेद थी भरेली भली ;
अनन्त अनन्त नयनिक्षेपे व्याख्यानी छे ।
सकल जगत हितकारिणी, हारिणी मोह ;
तारिणी भवाब्धि, मोक्षचारिणी प्रमाणी छे ।
उपमा आप्यानी जेने, तमा राखवी ते व्यर्थ ;
आपवाथी निज मति मपाई, में मानी छे ।

अहो ! राजचन्द्र, बाल ख्याल नथी पामता ए,
जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे॥
(श्रीमद् राजचन्द्र)

जब कोई रतन पारखी पैहौं, हीरा खोल भजैहौं;
तन को तुला सुरत को पलरा, मनको सेर बनैहौं।
मासा पाच पचीस रतीको, तोला तीन चढैहौं;
अगम अगोचर वस्तु गुरु की, ले सराफ पै जैहौं॥
(संत कबीर)

सभी संत महात्माओं ने आत्मा के इस अनुपम विशिष्टत्व को अगम, अगोचर, अलख, अनुपम, अलौकिक, अपूर्व, अचिन्त्य आदि शब्दों से अन्तर्ध्वनित किया है। इनमे तर्क द्वारा सिद्ध करने जैसी गन्ध भी नहीं है, मात्र पवित्रात्माओ के अन्तःकरण की आवाज है।

इसी तरह पाश्चात्य दार्शनिक—प्राचीन और अर्वाचीन—सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, डेकार्टे, स्पिनोजा, लाइब्नीज, लॉक, कैंट, ब्रेडली और बर्गसन आदि सभी ने Intuition (अन्तर्ज्ञान), Transcendental-knowledge (सर्वातिशायी ज्ञान), Clairvoyance (आशिक प्रत्यक्ष ज्ञान) आदि शब्दों द्वारा आत्मा के ज्ञानविशिष्टत्व को एक स्वर से स्वीकार किया है। इसी की पराकाष्ठा जो आत्मा के पूर्ण वीतरागत्व के साथ अविनाभावतः सम्बन्धित है "पूर्णत्व वा सर्वज्ञत्व" है।

तात्पर्य यह है कि 'अन्तर्दृष्टि या आत्मोपलब्धि' एक सत्य एवं अनुभवगम्य तत्व है, जिसके अधिकारी पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी है, उसे प्राप्त करनेवाले सभी महात्माओं ने ज्ञान के इस महत्तम स्वरूप को स्वीकार किया है।

---

# समाप्ति

पूर्व पृष्ठों मे यत्किञ्चित् यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि "आत्मा" और उसका "अपरिमेय विशिष्टत्व" जैन और जैनेतर, पौर्वात्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन सभी निर्मल एवं पवित्रात्माओं द्वारा पूर्णत: स्वानुभवतया गवेषित, परीक्षित, सम्मत, समर्थित, वेदित, ज्ञात और सिद्ध, सर्वथा निर्भ्रान्त एवं निश्चित तत्व है। इसकी प्राप्ति या अवगाहनत्व का पथ सर्वसुलभ, सरल व सीधा नहीं है। दुष्कर-से-दुष्कर, दुर्लभ-से-दुर्लभ यदि भूमण्डल मे कोई कार्य या वस्तु है तो यह अर्थात् "आत्मप्राप्ति"। प्रवचनकुशल वा विद्वान भी इसकी सिद्धि नहीं कर सकते। इसकी सिद्धि एकमात्र उसीके द्वारा होती है जो आत्ममय वा आत्मा ही मे सर्वत: घुल-मिलकर उसके साथ एकमेक हो जाता है अथवा उसीमे अन्तर्प्लावित होकर वह जाता है। भौतिक ज्ञान, वल, बुद्धि की प्रवीणता एवं विशेषता किसी मे कितनी भी क्यों न हो, इसे प्राप्त करने मे समर्थ नहीं हो सकता। एक, दो व लाखों-करोडों ही नहीं अपितु असंख्या-संख्य जन्मों की तपस्या, आराधना, उपासना एवं साधना के फलस्वरूप जव आत्मा पर लगा हुआ प्रगाढ मल दूर होता है, तव कहीं आत्मा की झाँकी मिलती है। यह अत्युक्ति नहीं

वल्कि सभी निर्मलात्माओ द्वारा परीक्षित एवं अनुभूत सत्य है। श्री हरिभद्रसूरि ने "योगदृष्टिसमुच्चय" में ही निर्देश किया है—

चरमे पुद्गलावर्त्ते, तथाभव्यत्वपाकतः।
संशुद्धमेतन्नियमान्नान्यदापीति तद्विदः॥ २४॥

श्रीमद्भगवद्गीता—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ४-३८॥

भावार्थ यह है कि आत्मा ससार मे अनादिकाल से जन्म-मरण करते-करते जब कुछ निर्मलत्व को प्राप्त करती है अथवा उसका प्रगाढ़ मल जब काफी हल्का पड़ता है, तब वैसी स्थिति मे या काल के उस अन्तिम चक्र मे उसका (आत्मा का) योगवीज (तत्वरुचि) स्फुरित एवं शुद्ध होता है, अन्यदा कभी नहीं; तत्वज्ञों की यही वाणी है। दूसरे श्लोक का अर्थ यह है कि ज्ञान के तुल्य पवित्र और कुछ भी नहीं है, जिसे समय प्राप्त होने पर वह स्वयं योगनिष्ठ होकर आत्मा में वेदन करता है।

यही कारण है कि तात्विक या सत्य-सम्बन्धी विचारधारा में जमीन और आसमान का अन्तर देखने मे आता है। एक पक्ष है जिसकी मान्यता यह है कि आत्मा और परमात्मा जैसा कोई पदार्थ ही नहीं है। जो कुछ दृश्यमान, क्रियमाण व शक्ति-मान है वह—"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश" इन पाँच भूतजन्य चैतन्य शक्ति का परिणाम है। चार्वाकादि और आधु-निक वैज्ञानिक सिद्धान्त मय मार्क्सवाद भी इसी विचारधारा के

अन्तर्गत हैं। दूसरा पक्ष है—जो आत्मा को मानने के साथ-साथ यहाँ तक कहता है कि वह स्व-संवेदनतया सिद्ध त्रिकालस्पर्शी सच्चिदानन्दघन एक ऐसा अनादिनिधन तत्व है, जिसमें "सर्वज्ञत्व" और "मोक्ष" स्वभावतः निहित है। वैदिक एवं जैनादि दर्शन इसी पक्ष के अनुयायी हैं।

आत्मा को ढूढने के, उसे शोध निकालने के या प्राप्त करने के अनेक विभिन्न साधन और उपाय हैं, जिनकी आधारशिला आत्मशुद्धि है। वह बातों से और चुटकियों से प्राप्त होनेवाली चीज नहीं। जैसा ऊपर बतलाया गया है कि अनेकानेक जन्मों के प्रकृष्ट त्याग और तपस्या के फलस्वरूप ही इसकी प्राप्ति होती है। तब कहीं प्राणी मे "किं तत्वं" की सामान्य जिज्ञासा पैदा होती है और वह उस दिशा में क्रमशः प्रगतिमान होता है। ऐसी ही आत्माओं द्वारा इस तत्व का ऊहापोह और निर्णय सम्भव एवं अपेक्षित है। अन्यथा तत्व अतत्व में, सत्य असत्य में परिणत हुए बिना रह ही नहीं सकता।

महात्मा गाँधी जिस व्यक्ति के सम्बन्ध मे लिखते है कि—"मारी उपर त्रण पुरुषोए ऊंडी छाप पाडी छे। टोलस्टाय, रस्किन अने रायचन्दभाई। रायचन्दभाई नी तेमनी साथेना गाढ परिचय थी, हिन्दू धर्म मा मने शंका पेदा थई ते समय तेना निवारण माँ मदद करनार रायचन्दभाई हता।" तथा "कवि ने ( रायचन्दभाई ने ) अंग्रेजी ज्ञान मुद्दल न हतुं। तेमनी ऊमर ते वखते पचीश थी उपर न हती। गुजराती निशालमा पण

थोड़ोज अभ्यास करेलो। छता आटली स्मरणशक्ति, आटलु ज्ञान अने आटलुं तेमनी आसपास ना तरफ थी मान।" तथा "संस्कार सारा होय त्याज स्मरणशक्ति अने शास्त्रज्ञाननो मेलाप शोभे अने जगत ने शोभावे। कवि संस्कारी ज्ञानी हता।"— वही कवि या रायचन्दभाई कहते है—

अनन्त अनन्त भाव-भेद थी भरेली भली,
अनन्त अनन्त नय-निक्षेपे व्याख्यानी छे।
अहो! राजचन्द्र, बाल ख्याल नथी पामता ए,
जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे॥

जिसका भावार्थ यह है कि जिनवाणी अनन्त भाव और भेदों से पूर्ण है, जिसकी व्याख्या अनन्त अनन्त नय-निक्षेपों द्वारा ही की जा सकती है। ऐ राजचन्द्र! इस तत्वमय सर्वज्ञवाणी का रहस्य बाल-दृष्टि नहीं पा सकते। इसके मर्म को कोई जाननेवाला ही जानता है। तात्पर्य यह कि जिनवाणी का गूढत्व अपरिमेय है और वह वस्तु गर्भित अनंत धर्मों की प्रकाशिका है, अतः गम्भीर-दृष्टि सुविज्ञ की ही इसमे गति हो सकती है, अन्य की नहीं।

पूर्ववर्णित श्री आचारॉग प्रसङ्ग मे आये हुए "जे एगं णामे से बहूणामे", "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ", "सव्वतो पमत्तस्स भयं", "सव्वतो अपमत्तस्स णत्थि भयं", "नत्थि सत्थं परेणपरं", "नत्थि असत्थं परेणपरं", आदि वाक्यों का कोई विशेषज्ञ हो तो इनमे छिपे हुए

तथ्यों को अनेकानेक भावो व भेदों द्वारा आज भी प्रकट एवं विस्तारित कर सकता है। एक-एक पद पर महान् ग्रन्थ की रचना हो सकती है, जैसे कर्मों की कौन-कौन प्रकृतियाँ नमती हैं, प्रकृतियाँ जो अनमनशील है, इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे आत्मापर प्रभावादि, इसी तरह अनेकानेक भावों, भेदों, दृष्टियों से इस एक पद का ही विचार, अवगाहन और विस्तार किया जा सकता है। इसी तरह जो एक का पूर्ण ज्ञाता है वह सर्व का पूर्ण ज्ञाता है इस पद का तथा प्रमाद, अप्रमाद, सत्यं—असंयम या आश्रव की अनन्त लीलाएं और उनका परिणाम अकल्प्य दुःख और संवर का साम्यरसमय अपरिमेय विशिष्टत्वादि पदों के भावों, भेदों पर अनेकानेक तरह से सूक्ष्मतया विवेचन किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि जिनवाणी किसी गहरे पानी-पैठ-मर्मज्ञ एव विशेषज्ञ का ही विषय है, अन्य का नहीं। अमर्मज्ञ वा वाह्यदर्शी इसका दुरुपयोग एवं अर्थान्तर किये विना रह नहीं सकता। श्री रायचन्द भाई कहते है कि इसका गहनत्व असीम, अनन्त है और पंडितजी कहते हैं कि यह 'सर्वज्ञवाणी' तो दरकिनार, इसका तथ्य द्रव्य-पर्याय के दो भेदों के नाम या स्थूल व्याख्या जितना हो जाय तो बहुत है। इससे यह सिद्ध हुआ कि रायचन्द भाई की दृष्टि मे जो अमूल्य रत्न है, वही पंडितजी की दृष्टि मे मात्र पत्थर का ढेला है।

जिनवाणी अनन्त गाम्भीर्ययुक्त एवं सर्वज्ञवाणी है या नहीं, इसका पारखी कौन? ऐसी वस्तु के गाम्भीर्य को भौतिक प्रयोगशालाओं के प्रयोगो द्वारा तो सिद्ध किया ही नहीं जा सकता। इसकी परीक्षा के तरीके बिल्कुल भिन्न और निराले है। आत्मा ही एक मात्र इनका माध्यम है। उसमें विशुद्धता की मात्रा जितनी अधिक, तत्व की सूक्ष्मता को नापने की क्षमता भी उतनी विशेष। उदाहरणार्थ—"सम्यग्दर्शन" को लीजिये। जिनवाणी में निर्देश है—"सात कर्म प्रकृतियो के क्षय व क्षयोपशम से क्षायिक (पूर्ण) व क्षायोपशमिक (आंशिक) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।" अर्थात् अनन्तानुबन्ध्यादि चार प्रकृतिया या प्रकृष्ट कोटि का राग, द्वेष और सम्यक्त्व-मोहनीयादि तीन प्रकृतियाँ अथवा आत्मस्वरूप पर पर्दा डालने वाला तीन प्रकार का भीषण मोह, आध्य, भ्रम—ये सात प्रकृतियाँ जितने परिमाण मे क्षीण होती है, सम्यग्दर्शन भी उतने परिमाण में निर्मल और प्रकाशमान होता है। स्वानुभव के सिवा इसका साक्षी कौन? अथवा अपनी निर्मल आत्मा के सिवा इसकी कसौटी या मानदंड ही क्या?

यह अनुभव सिद्ध है कि 'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति होने पर आत्मा में राग-द्वेष या क्रोध, मान, माया, लोभादि दुर्बल पड़ते है और आत्मोपलब्धि-ज्योति एवं एक अपूर्व विवेक, उल्लास व आनन्द का प्रादुर्भाव होता है। इतना ही नहीं बल्कि उसी परिमाणानुसार साथ-साथ सम, सम्वेगादि अनेक गुणों का

आत्मा मे उदय भी होता है। इस अनुभवसिद्ध सत्य के गहनत्व पर विचार करने पर विस्मय की सीमा ही नहीं रहती। समझ से नहीं आता कि कर्म-प्रकृतिया जैसी चीज भी होती है और उनमे आत्मा के गुणों को अत्यन्त भीषणतया आवरित करने की शक्ति है, जिन्हें आत्मा 'अपने प्रयास द्वारा नष्ट भी कर सकती है। क्या ऐसे प्रत्यक्ष सत्य निगूढ तत्वों का निरूपण त्रिकाल के सर्वभाव-ज्ञाता के सिवा भी कोई हो सकता है ?

इसीतरह जिन-प्रणीत जीव-विज्ञान पर विचार कीजिये। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमय एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं मनुष्य, पशु-पक्षी आदि पंचेन्द्रिययुक्त प्राणी-विज्ञान का यथावत प्ररूपण जीव के लक्षण-व्यंजन सहित जैसा सुनिश्चित एवं यथार्थ 'जिनवाणी' मे आज भी मिलता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। इसके सूक्ष्मत्व का कोई यथार्थ पारखी हो तो माने विना रह ही नहीं सकता कि सिवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानी के अथवा त्रैकालिक सर्वज्ञ के, इसका प्ररूपण संभव ही नहीं है। स्थूल वनस्पतिकायिक—वृक्ष, पत्र, फल, फूलादि जीव है, यह तो प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्व० जगदीशचन्द्र वसु ने वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा भी सिद्ध कर दिया है। किन्तु वस्तु-भाव सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है, इस दृष्टि से भी देखा जाय तो यह पता चलता है कि वस्तु-निहित सूक्ष्मत्व सत्य एवं यथार्थ है, वह काल्पनिक नहीं। विश्व के सभी पदार्थ चर्मचक्षु के ही विषय है,

ऐसा तो कदाचित् माना ही नहीं जा सकता, अस्तु , सूक्ष्म वनस्पतिकायिकादि जीव सुनिश्चिततः है जो अन्य लक्षणों से भी सिद्ध है, और वे तद्‌योग्य गंभीर-दृष्टि विचारक के ही विषय हो सकते हैं।

जलकाय जीव-पिंड ही है, इस पर विचार नहीं करके यदि उसके एक बिन्दु में भी त्रसकायिक (चलने फिरने वाले) जीव भी अनेकानेक है, जिनवाणी अभिहित इस सत्य की भी जाँच की जाय, तो आज के सूक्ष्मदर्शक यंत्रो द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है। जब चलने-फिरने वाले जीव भी एक बिन्दु जल में अनेकानेक है और वे बिना यंत्र की सहायता के देखे ही नहीं जा सकते, तब विचार करने पर मालूम होता है कि इससे भी सूक्ष्म शरीर-धारी जीव जरूर होंगे और वे ही जिन-प्ररूपित पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकायादि जीव है और सुनिश्चिततः सत्याधारित है। पदार्थ-रहस्य सूक्ष्म है अतः ऐसे गूढ सत्य की परीक्षा भी किसी रायचन्द भाई जैसे सूक्ष्मदृष्टि चिन्तक के द्वारा ही की जा सकती है। यही कारण है कि वे इस जमाने में पैदा होकर भी, प्राचीन काल के सभी आचार्यों के साथ सुर में सुर मिला गये कि जिनवाणी—त्रैकालिक सर्वज्ञ की वाणी या इससे भी परे कोई शक्ति हो तो उसकी वाणी है जो अनन्त अनन्त गहनत्व से परिपूर्ण है और जिसकी थाह किसी तरह से पायी ही नहीं जा सकती तथा बाल-ख्याल या बालदृष्टियों की गति इसमें होनेवाली ही नहीं।

जिनवाणी मे निर्देश है कि पुद्गल-परमाणु अनन्त धर्मयुक्त है। शब्द, छायादि पौद्गलिक स्कन्ध (material molecule) एक समय मे समस्त लोक मे व्याप्त होने की क्षमतावाले हैं। तब प्रश्न होता है कि सर्वथा निष्परिग्रही ( जिनके पास यन्त्रादि की गन्ध भी नहीं ) इन तत्वों के प्ररूपक यदि अनन्तज्ञानी नहीं थे तो पदार्थ-गर्भित ऐसे गूढ़ धर्मों को बिना यन्त्र प्रयोग के उन्होंने प्रकाशित किया तो कैसे ? मानना ही पड़ेगा—किसी भी न्याय-दृष्टि को—कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के बल पर।

इसीतरह जिनवाणी में—'औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिकादि' भावों का विधान है। ये भाव जीव के स्वतत्व हैं अर्थात् ये जीव में पाये जाते हैं। इनकी गम्भीरता, विलक्षण अनुभवगम्यता अकल्पनीय है। उपर्युक्त सम्यग्दर्शन पर विचार करने से इनकी कुछ झाकी मिल सकती है। आत्मशुद्धि की प्राप्ति मे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव ही मूल हेतु हैं, जो अनुभवसिद्ध हैं। ऐसे अत्यन्त निगूढ तत्व जो आज भी अनुभव से यथार्थ एवं सत्य प्रमाणित होते हैं, उनका विधाता त्रिकालज्ञ के सिवा अन्य कोई सम्भव ही कैसे ?

जिनवाणी मे उल्लेख है कि शरीर, वचन, मन, प्राणापान ( श्वास-निश्वास ) तथा सुख, दुःख, जीवन और मृत्यु के निमित्त पौद्गलिक हैं। इसी तरह शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतादि भी पौद्गलिक है।

शब्द, छायादि का पौद्गलिकत्व रेडियो आदि द्वारा प्रत्यक्षतया प्रमाणित है। इसीतरह इन सभी पदार्थों का पौद्गलिकत्व पूर्णतया प्रमाणित एवं सिद्ध है। क्या कोई भी सूक्ष्मदृष्टि विचारक कह सकता है कि इन तत्वो का प्रकाशक विश्व के अखिल भावों का ज्ञाता नहीं था ?

कर्मसत्ता एक ध्रुव निश्चित सत्य है जिसका सागोपाग और यथावत् निरूपण जिनवाणी मे आज भी उपलब्ध है। वह इतनी सुव्यवस्थित और अनुभवसिद्ध है कि जिसकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। कर्म भी पौद्गलिक-स्कन्ध है और उनकी सूक्ष्मता अपरिमेय है। प्रत्येक स्थूल पदार्थ की पृष्ठभूमि में संख्यातीत सूक्ष्म अणु या कण होते है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्राणापान, मन, वचन और शरीर उसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्मण-शरीर के ही स्थूल परिणाम है, यह स्वयंसिद्ध है।

उपर्युक्त कर्म-सिद्धान्त के अनन्त सूक्ष्मत्व की सामान्य झांकी हमलोगो को शायद कुछ अंश मे इस तरह से मिल सकती है— अनुमान कीजिये कि कोई स्वस्थ व्यक्ति रास्ता चलते हुए एक दुर्घटना या सीने में दर्द का शिकार हुआ और वह नीचे गिर कर वेदना से छटपटाने लगा। इससे पूर्व वह बिलकुल तन्दुरुस्त था। अकस्मात् उसका यह हाल हुआ। पूर्व किसी भी जन्म मे या इस जन्म मे भी उसने अपने ही किसी कार्य के फलस्वरूप ऐसे सूक्ष्म कर्म-पुद्गलों को संचित किया होगा जिनका इस दुर्घटना के स्थूल रूप मे प्रगट होने का समय अब परिपक्व हुआ है

और उसे अपना भक्ष्य बनाया है। इसीतरह प्राणी के जन्म, मरण, विद्या, बुद्धि, धन, कुटुम्ब, मान, पद, लाभ एवं हानि आदि सभी संयोग-वियोग किसी भी पूर्व वा इस जन्म की आत्मगृहीत सूक्ष्म-रज का ही स्थूल परिणाम है।

आत्मा की जीवनयात्रा की न तो कभी शुरूआत है और न कभी अन्त ही। वह जन्म-जन्मान्तरों मे भेष ( शरीर ) बदलती हुई तथा जन्मान्तरो के नये रूपों—नर, नारी, पशु, मत्स्य, कीट, पतङ्गादि—को धारण करती हुई भी द्रव्यतः अभिन्नतया वही है, अन्य कदाचित् नहीं, भले उसे जन्मान्तर की बीती कथा याद न आये—

वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
गीता—२-२२॥

दिव्यात्माओं के ये वाक्य अक्षरशः यथार्थ एवं ध्रुवतः सत्य है। पर, मानव तो यों ही सदा का भूला-भटका और ऊपर की चकाचौंध मे गहिला था ही, जिस पर विज्ञान की चमक-दमक और नई-नई अनात्मवाद की थ्योरियों (Theories) ने उसमे 'एक तो करेला दूजे नीमचढा' वाली लोकोक्ति चरितार्थ कर दी है और उसे ऐसी भूल-भूलैया मे फंसा दिया है तथा उसकी आखों पर एक ऐसा जबर्दस्त भ्रामक चश्मा चढ़ा दिया है कि जिसके चङ्गुल से वह शायद ही कभी निकल पाये या उसका यह चश्मा उतर सके।

उसी मानव द्वारा गृहीत वह सूक्ष्म रज उपर्युक्त जन्म, मरण, विद्या, वृद्धि, हानि, लाभादि के स्थूल रूप मे परिणत होकर समय होने पर अपना परिचय देती है। यह वस्तुधर्म या Law of nature है, जिसका विधान अटल है और जिसकी शासन-व्यवस्था मे न भूल को ही आश्रय है और न क्षमा को भी। समय आने पर वह अपना निशान ताकने से कभी बाज आ नहीं सकता। जिनवाणी यथावत् वस्तुधर्म-प्रकाशिणी है। इसमे वस्तुधर्म प्रकाशक अगणित निगूढ तत्व भरे पड़े है, जो केवल आत्मा की चिरव्याधि भवफेरी की चिकित्सा के प्रसंग में वर्णित हुए हैं। कोई भी गम्भीर विचारक इस तथ्य को कैसे अस्वीकार कर सकता है कि यथावत् वस्तुधर्म का। प्रकाशक, अनन्त-ज्ञानी के सिवा अन्य भी कोई सम्भव है ?

और भी कुछ गम्भीरता से विचार कीजिये—जिनवाणी निहित अत्यन्त सूक्ष्म तत्वों पर। मुख्य कर्म आठ है, जिनकी शाखा-प्रशाखाये या प्रकृतिया—है तो असंख्य किन्तु स्थूल दृष्टि से समझने के लिए कुल मिलाकर सत्तानवे (९७) वा कुछ अधिक बतलाई गई हैं। इनमे से किसी को भी ले लीजिये। जैसे नाम कर्म की प्रकृतियाँ—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अंगोपागनाम, निर्माणनाम, बंधननामादि। आत्माने उपर्युक्त कर्म प्रकृतियों की सूक्ष्म रज को अपनी क्रियाओं द्वारा जन्मान्तर में संचित किया है और वही समयानुकूलतया स्थूलाकार मे परिणत होकर उसकी मनुष्य, तिर्यंचादि गति की, पंचेन्द्रियादि

जाति की तदनुकूल शरीर की, अंगोपाग की और उनके निर्माण एवं बंधनादि की मूल-हेतुतः इस जन्म में विधायक हुई है। 'सदृश सदृश को आकर्षित करता है', सिद्धान्तानुसार वही सूक्ष्म रज अपनी अनंत शक्ति के बल पर वैसे स्थूल परमाणुओं का संयोग कर लेती है या अपनी ओर उसी क्षण खींच लेती है जैसे विद्युत्शक्ति द्वारा radio आवाज को और television छाया को खींच या पकड़ लेता है, और फलतः वह (सूक्ष्म-रज) तदनुसार सारी व्यवस्था की नियामिका बनती है। चुम्बक जैसे स्थूल भौतिक पदार्थ मे भी अपने स्वजाति को आकर्षित करने की जहा इतनी शक्ति है वहाँ विद्युत् आदि से भी अत्यन्तात्यन्त सूक्ष्म कर्म-स्कंधों की आकर्षण शक्ति कितनी प्रबल एवं तीक्ष्ण होगी, यह सहज मे ही अनुमान किया जा सकता है। जिनवाणी कपोलकल्पित नहीं, अपितु वह किसी निरुपचरित या वास्तविक सर्वज्ञ को ही वाणी है, इसके अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण है, बशर्ते किसी मे शक्ति हो जौहर परखने की।

जिनवाणी केवल मोक्षवाणी ही है जो मात्र आत्मा के अन्तिम श्रेष्ठ ध्येय एवं परिणाम 'मोक्ष' के प्रयोजनार्थ ही प्ररूपित है, यह एक बालक भो जानता है। इसमे मोक्ष के सिवा अन्य जो भी चर्चा आई है, वह उसी सिलसिले मे आये हुए प्रसंगों को लेकर। उन अनंतज्ञानी निर्मलात्माओं ने त्रिकाल के सर्व-भावों को जानते हुए भी सिर्फ उन्हीं तत्वों का जिक्र किया है जो मोक्ष के लिए आवश्यक और उपादेय थे। इसके सिवा सर्व ही

भव-भ्रमण तथा दुःख का ही हेतु और आत्मा का अवाञ्छनीय या आत्म-प्रतिकूल है इसीलिए विश्व के अनंत पदार्थों के अनन्तानन्त विस्मयों को एवं अद्भुत रहस्यों को जानते हुए भी उन पर प्रकाश डालना उनके लिये अप्रयोजनीय तथा अनावश्यक था।

जिन-तत्व की आचार-व्यवस्था पर विचार करने से पता चलता है कि वह अत्यन्त पवित्र एवं निर्दोष है। वह यथार्थ मे ही खड्गधारा पर चलने से भी कठिन है, फिर भी आज जैसे युग मे भी किसी मोक्ष-परायण आत्मा के लिए यथासभव निर्दोषतया आचरणीय नही हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसी अनुपम व्यवस्था-निर्देशक के ज्ञान-गाम्भीर्य का कोई परिमाण हो ही नहीं सकता। इसी प्रसग मे जिनवाणी के क्षमा-तत्व पर दृष्टिपात कीजिये—

खमिअ खमाविअ मइ खमह सव्वह जीवनिकाय।
सिद्धह साख आलोयणह मुज्भह वइर न भाव॥

सव्वे जीवा कम्मवस चउदहराज भमंत।
ते मे सव्व खमाविआ मुज्भवि तेह खमंत॥

इत्यादि वाक्य जो जिनप्रणीत आचार के प्राणस्वरूप है, वे कितने आत्मशोधक एवं आत्मोत्कर्षक है, यह शब्दातीत है। इसीतरह षडावश्यकादि क्रियाओ का महत्व और गम्भीरत्व अमान एवं अवर्णनीय है।

गणितादि के प्रश्न भी सूक्ष्म एवं जटिल होते है, जो हर एक की समझ मे नहीं आते और वे उनके लिये काल्पनिक एवं निराधार बन जाते है, किन्तु उनके लिये सत्य एवं साधार है, जिनमे सामर्थ्य है उन्हें समझने की और समाधान करने की। यही

हाल है जिनवाणी का—है तो सभी सत्य और यथावत् वस्तु-धर्म-प्रकाशक, परन्तु उसके लिये जो तद्योग्य गणितज्ञ हो।

धर्मास्तिकाय जैसे तत्व का अस्तित्व भी आज के वैज्ञानिक रूपान्तरनया ether के नाम से स्वीकार करते हैं। इसतरह आज अपनी लुप्तप्राय अवस्था मे भी जिनवाणी मे एक-दो नहीं, अपितु सहस्रों अनमोल तत्व एवं रत्न भरे पड़े हैं, बशर्ते तद्योग्य अन्तःप्रवेशक एव परीक्षक कोई हो। कोई माई का लाल स्वामी रामतीर्थ की तरह सागर के अन्तस्तल मे गोता लगानेवाला भी कहीं हो।

सर्वज्ञत्व जैसे गम्भीरातिगम्भीर तात्विक विषय पर चाहे जो लिख मारना, इससे बढकर सत्य-घात और सत्य के प्रति अन्याय का कार्य शायद ही कोई हो सकता है। खासकर जब यह एक दर्शन और चिन्तन के विद्वान कहलानेवाले व्यक्ति द्वारा किया जाय तब दुर्विचार और दुष्प्रयास की हद है। 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' आदि निगूढ तात्विक वाक्यों के अर्थान्तर की कुचेष्टा अनुदाहरणीय है। सत्य त्रिकाल ही सत्य है और वह आज भी ऐसा ही है, कोई उसे समझ व हजम न कर सके, इसलिये सत्य का लोप नहीं हो जाता। मनुष्य उसे नहीं समझने के कारण अथवा जमाने की हवा से प्रभावित या चौंधिया जाने के कारण अपनी व्यक्तिगत विचारधारा या युग के वायुमण्डल के साथ उसका मेल करने की कोशिश करता है और उसी प्रवाह मे वह स्वयं बह जाता है और सत्य को भी अपना साथी बना लेता है।

पण्डितजी ने चाहे जिस उद्देश्य से इस लेख को लिखा हो, यह सत्य पर घोर एवं अवर्णनीय अन्याय है। मैंने अपनी अल्प बुद्धि अनुसार उनकी युक्तियो का कुछ अंश मे उत्तर दिया है, जिसमे कटु शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। पण्डितजी से मेरा व्यक्तिगत किसी भी प्रकार का द्वेप नहीं है और न उनसे मेरी जान-पहिचान ही है। मैंने तो प्रसंगवश सत्य को दृष्टि मे रखते हुए जो अपनी छोटी समझ मे आया उसे एक वालक की तरह प्रकट करने की कोशिश की है, तथापि इस कटुत्व के लिये जो प्रसंगतः आया है, मैं पण्डितजी से शुद्ध हृदयपूर्वक क्षमतःक्षामणा करता हूँ।

मैं एक बहुत साधारण और क्षुद्र व्यक्ति हूँ। मेरी आवाज की कोई कीमत होगी, इसकी मुझे उम्मीद नहीं। फिर भी धृष्टतापूर्वक इतना मैं शुद्ध हृदय और निष्पक्ष दृष्टि से—लाख-करोड ही नहीं, बल्कि असंख्य गारण्टियों के साथ कह सकता हूँ कि आज की इस अति संक्षिप्त एवं अल्प मात्रा में बची हुई जिनवाणी मे भी वस्तुतः हो अनन्तज्ञानी निर्दिष्ट अनेक तत्व मौजूद है, जो यथार्थ एवं अनुभवसिद्ध हैं। कोई भी तद्योग्य गम्भीर विचारक और सत्यान्वेषी इस तथ्य को स्वीकार किये बिना रह ही नहीं सकता।

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन मे, मेरी अज्ञानतावश जो भी सर्वज्ञ-वाणी के विपरीत लिखने मे आया हो, उसके लिये अन्तःकरण-पूर्वक क्षमा-प्रार्थी हूँ। सत्य का आश्रय ही प्राणियों के लिये एकमात्र हितकर व कल्याणप्रद है अतः इसका प्रसार हो, इसी भावना के साथ विराम लेता हूं।